आनन्द की खोज

डॉ. बलदेव सहाय

आनन्द की खोज

उपनिषदों के आधार पर

डॉ० बलदेव सहाय

संस्कार प्रकाशन

जनता जनार्दन को समर्पित

अनुक्रम

प्राक्कथन

जितना विपुल आध्यात्मिक साहित्य भारत में उपलब्ध है, विश्व के किसी अन्य देश में नहीं मिलता। वेद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक मानी गई है। भारत के ऋषियों ने घोर तप द्वारा अपने अन्तर् में इनकी ऋचाओं का 'श्रवण' किया, अतः ये अपौरुषेय कहे जाते हैं और 'श्रुति.' अंग में आते हैं। वेद चार हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। इन चारों वेदों में लगभग 20,000 ऋचाएँ हैं। प्रत्येक **वेद** के चार भाग हैं—**संहिता** या मंत्रभाग, **ब्राह्मण ग्रंथ** जिनमें धार्मिक कृत्य सम्मिलित हैं; **आरण्यक** जो ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं, जिन्हें वनों के शान्त वातावरण में अध्ययन करना अभीष्ट है; और **उपनिषद्** जिनमें विशुद्ध ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। छः वेदांग हैं—शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और कल्प। उनके चार परिशिष्ट हैं—पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। प्रत्येक का अपना विस्तृत साहित्य है, जैसे 18 पुराण और उनके 18 ही उप-पुराण हैं, कितने ही धर्मशास्त्र हैं जो 'स्मृति' कहलाते हैं जैसे 'मनुस्मृति' आदि। इस तरह 14 मुख्य विद्याएँ बताई गई हैं—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

इनके अतिरिक्त चार उपवेद हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद और अर्थशास्त्र। विषय-वस्तु के अनुसार, विद्या दो प्रकार की मानी जाती है—अपरा और परा, जिन्हें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भी कहते हैं। अपरा लौकिक विद्या है जो सांसारिक धार्मिक कर्मों द्वारा मनुष्य को स्वर्ग तक ले जाती है, परा-विद्या ब्रह्म-ज्ञान की साधना बताकर हमें जीवन-मरण के चक्र से मुक्त कर परमानन्द एवं अमरत्व की प्राप्ति में सहायक होती है। उपनिषद् ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं और ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा देते हैं।

वैसे तो 200 से अधिक उपनिषद् हैं, उनमें 108 मुख्य हैं और उनमें भी 11 उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं जिनके आदिशंकराचार्य ने भाष्य लिखे हैं। वे हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर और बृहदारण्यक, कुछ विद्वान् इनमें कौषीतकी उपनिषद् भी जोड़ देते हैं। उपनिषद् किसी धर्मविशेष या मतमतान्तर की चर्चा नहीं करते। वे विशुद्ध सत्, हक, 'ट्रुथ', पूर्णता को प्राप्त करने की बात करते हैं। वे उस सत् को ब्रह्म, ईश्वर, भूमा आदि नामों से पुकारते हैं, परमानन्द की खोज के उपाय बताते हैं जो '**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' है। अतः किसी भी धर्म का अनुयायी इनके अध्ययन से लाभ उठा सकता है।

मुगल बादशाह शाहजहाँ के सुपुत्र दारा शिकोह इनको पढ़कर मंत्रमुग्ध हो गए थे

और उन्होंने संस्कृत-विद्वानों की सहायता से लगभग 50 उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद किया। उन्हें पढ़कर फ्रांसिसी विद्वान् ड्यु पेरों ने उनका लातिन में भाषान्तर किया। उसके बाद कितने ही पाश्चात्य विद्वानों की भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में रुचि भड़क उठी। जर्मन विद्वान् मैक्स म्यूलर ने 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' नामक बृहद् ग्रंथ लिखा। विश्व के जिन-जिन विद्वानों ने उपनिषदों का अध्ययन किया है, वे मंत्रमुग्ध हो गए।

अधिकांश उपनिषद् आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व रचे गए थे, पर वे शाश्वत सत्य की व्याख्या करते हैं जिनका महत्त्व जैसा तब था वैसा ही आज है और आगे भी रहेगा। फिर भी उस युग की मान्यताएँ एवं मूल्य आज की विचारधारा से भिन्न थे, न आज की प्रदूषण, भ्रष्टाचार एवं आतंकवाद की समस्याएँ उस युग में इतना महत्त्व रखती थीं। उस समय के अनुष्ठान जो आज लोकप्रिय नहीं हैं, उन्हें डॉ० सहाय ने विशेष महत्त्व नहीं दिया है, साथ ही उपनिषदों के दर्शन को आज के युग से मिलाकर उपनिषदों की सार्थकता स्थापित की है।

डॉ० बलदेव सहाय सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी हैं। आप पुरातत्त्वविद्, कला-समीक्षक, संगीत-समीक्षक एवं कवि हैं। आपने भारतीय सूचना सेवा से 1976 में अवकाश प्राप्त किया। जन-सम्पर्क इनका व्यवसाय रहा है और इन्हें कितने ही पुरस्कार मिल चुके हैं। इनकी 14 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें 'जन-संपर्क', काव्य-संग्रह 'मंथन' और 'भारतीय जहाज़रानी : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में' बहुचर्चित हैं। आपकी पुस्तक 'जीने की कला' के गत एक वर्ष में तीन संस्करण निकल चुके हैं। हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी में लगभग 2000 लेख प्रकाशित हो चुके हैं, और होते रहते हैं।

सहाय जी का कहना है कि वर्तमान समस्याओं का मूल कारण है बढ़ता हुआ भौतिकवाद और धनोपार्जन को जीवन का मुख्य लक्ष्य मानना। इस मनोवृत्ति को आध्यात्मिक मोड़ देना होगा जिसके लिए उपनिषदों का अध्ययन, प्रचार एवं प्रसार, अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकता है। अतः इन्होंने इस पुस्तक में ग्यारह प्रमुख उपनिषदों के चुने हुए मंत्रों की आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की है। मेरा अनुमान है कि उपनिषदों के दर्शन को दैनिक जीवन से जोड़ने का यह पहला एवं मौलिक प्रयास है। सहाय जी ने एक कुशल संचारक होने के नाते इस उत्तरदायित्व को बड़ी सफलतापूर्वक निभाया है।

उनकी भाषा सरल और सटीक है। क्योंकि वे एक लेखक ही नहीं, साधक भी हैं इसलिए उन्होंने उपाख्यानों तथा ध्यान-सम्बंधी अपने निजी अनुभवों की चर्चा करते हुए, कितने ही दुरूह एवं दुर्बोध विषयों की मनोरंजक ढंग से व्याख्या की है। मैंने जितनी पुस्तक पढ़ी है मुझे बहुत अच्छी लगी और मेरा विश्वास है कि पाठक भी इसको पसंद करेंगे। जैसा लेखक ने कहा है, केवल जानना पर्याप्त नहीं है, जो जाना है उसे जीना आवश्यक है।

—महामण्डलेश्वर स्वामी असङ्गानन्द सरस्वती
साहित्य वेदान्ताचार्य, एम०ए०

भूमिका

हम सब आनन्द की खोज में लगे हुए हैं, पर सभी दुःखी दिखाई देते हैं। निर्धन यदि दरिद्रता से दुःखी है तो धनवान् को अन्य कितनी ही परेशानियाँ हैं। नानकदेव जी ने ठीक ही कहा है : नानक दुखिया सब संसार। यदा-कदा हम सुखी तो हो जाते हैं, पर आनन्द अधिकांश लोगों की पकड़ में नहीं आता। हम यह मानकर चल रहे हैं कि 'सुख' वह है जो शरीर से सम्बंधित है, आता है और चला जाता है; पर 'आनन्द' आध्यात्मिक होता है, एक बार अनुभव कर लिया जाए तो फिर कभी जाता नहीं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ निरन्तर अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं—आँखें सौन्दर्य निहारना चाहती हैं, कान संगीत या मधुर वाणी सुनना चाहते हैं इत्यादि। जब वांछित वस्तु मिल जाती है, हम सुख अनुभव करते हैं; जब नहीं मिलती या मिलकर बिछड़ जाती है, तब दुःख। यह स्वाभाविक भी है; इन्द्रियाँ बहिर्मुखी जो हैं। पर हम जो कुछ चाहते हैं वह सब-कुछ मिल तो सकता नहीं, इसलिए इन्द्रियों की इस ललक पर नियंत्रण रखना आवश्यक है और धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा हम इन्हें अन्तर्मुखी भी बना सकते हैं। इसी तरह हमारा मन भी नित-नए मनसूबे बनाता रहता है; बिना इच्छाओं के जीवन नीरस हो जाएगा। इच्छाओं की पगडंडी पर ही जीवन चलता है। पर अपनी इच्छापूर्ति में हम किसी अन्य का पैर तो नहीं कुचल रहे, अथवा प्राकृतिक सम्पदा को तो हानि नहीं पहुँचा रहे—इसका ध्यान रखना होगा। अतः हमें आकांक्षाओं पर भी अंकुश लगाना ज़रूरी है।

कुछ समय से ऐसा देखा जा रहा है कि 'नियंत्रण', 'अंकुश' जैसे विचारों को रूढ़िवादी माना जाने लगा है। आज की युवा पीढ़ी के कोष में जैसे ये शब्द हैं ही नही। मुक्त वातावरण, खुले विचार, मनमाना व्यवहार—कुछ ऐसी है वर्तमान संस्कृति, और इस खुलेपन की ओट में जैसे उच्छृंखलता नृत्य कर रही है। सारे विश्व में, सारे समाज में, सारे व्यवसायों में अनुशासनहीनता का बोलबाला है। इस प्रवृत्ति को ऑस्ट्रिया के मनोवैज्ञानिक **सिग्मंड फ्रायड** (1856-1939) के सिद्धान्तों से काफ़ी बल मिला। उनका कहना है कि मानव की मूल प्रवृत्तियाँ

पाशविक हैं और उनमें यौनप्रवृत्ति सबसे अधिक बलवती है। सभ्य समाज में रहते हुए हम मनमानी तो कर नहीं सकते, और शालीनता बर्तने में कुछ प्रवृत्तियों को दबाना होता है। इस दमन से अचेतन और अर्धचेतन मन में गाँठें पड़ जाती हैं और वह विभिन्न रोगों के रूप में उभरकर सामने आती हैं। इन कठिनाइयों से बचने का साधारण उपाय है कि अपनी प्रवृत्तियों को—जिनमें स्वच्छन्द संभोग भी शामिल है—खुली छूट दे दी जाए। यह ठीक है कि **फ्रायड** के जीवनकाल में उनके ही कुछ विशिष्ट शिष्यों **एडलर** और **युंग** ने उनकी इन मान्यताओं का खुलकर विरोध किया, फिर भी **फ्रायड** का प्रभाव चल ही रहा है। इस मनोवृत्ति से नैतिकता को बहुत बड़ा धक्का लगा है। वैसे भी, इन्द्रियों का अपने विषयों की ओर लपकना बहुत आसान है। उनको अन्तर्मुखी करने या उनको नियंत्रित करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इन्द्रिय-सुख भोगने के लिए जैसे भी हो धनोपार्जन करना जैसे मानव-जीवन का परम लक्ष्य बन गया है। इस प्रतिस्पर्धा में यदि सशक्त व्यक्ति या राज्य को, दुर्बलों को रौंदना भी पड़े, या प्रकृति को हानि पहुँचे, तो भी उसे कोई आपत्ति नहीं है। इस विचारधारा का परिणाम यह है कि भूलोक के एक-तिहाई लोग प्राकृतिक सम्पदा के दो-तिहाई भाग का उपभोग कर रहे हैं और विश्व की कुल जनसंख्या का छठा भाग—लगभग एक अरब से अधिक प्राणियों को दो समय पेट-भर भोजन प्राप्त नहीं होता, और पृथ्वी का तो जैसे बलात्कार हो रहा है।

सन् 1997 में प्रकाशित **दुनिया की दशा** ('स्टेट ऑव द वर्ल्ड') में **क्रिस्टाफर फ्लेविन** बताते हैं कि 1992 और 1997 के अन्तराल में इस पृथ्वी के बड़े-बड़े कितने ही वनों का सफ़ाया हो गया, उनमें आरक्षित कितनी ही वनस्पतियों तथा पशु-पक्षियों की जातियाँ लोप हो गई, निरन्तर बढ़ती जनसंख्या को रहने के लिए स्थान जो चाहिए था। बीसवीं सदी के आरम्भ में विश्व की कुल आबादी 1 अरब 60 करोड़ थी जो सदी समाप्त होते-होते 6 अरब से अधिक हो गई। धरती की सीमित सम्पदा पर अधिक दबाव पड़ रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में **लेस्टर ब्राउन** बताते हैं कि विश्व का पक्षीधन दिनोंदिन कम होता जा रहा है। लगभग 9600 प्रजातियों में अब केवल 3600 ही टिकी हुई हैं, शेष का ह्रास हो रहा है और 1000 जातियाँ तो नष्टप्राय हो गई हैं। बढ़ते हुए जल-प्रदूषण के कारण, समुद्री मछलियों के जीवन का संकट गहरा हो गया है और बहुत-से अन्दरूनी तथा तटीय समुद्र जैसे अरल-सी, कैस्पियन-सी, ब्लैक-सी का जीवन-काल तेज़ी से घट रहा है। वायु-प्रदूषण तो इतना अधिक बढ़ गया है कि बड़े-बड़े नगरों में जनसाधारण चेहरे पर नक़ाब पहनने लगे हैं. वायुमण्डल विकृत

हो गया है, वायुमण्डल की 'ओज़ोन' परत झीनी होती जा रही है जिससे विकिरण, 'रेडियेशन' में वृद्धि हो रही है।

सन् 1995 में साहित्य-सिधु प्रकाशन, बंगलौर द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक 'इन द वुड्स ऑव ग्लोबलाइज़ेशन' में श्री **रामास्वामी** बताते हैं कि सबसे अधिक प्रदूषण विकसित देश फैला रहे हैं, इसलिए उसकी रोकथाम में उनका ही बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। उनके मतानुसार 1950 और 1987 के बीच अमरीका ने वातावरण में 40 अरब टन कार्बन गैस छोड़ी, यूरोप ने 23 अरब टन और भारत ने केवल 3 अरब टन। उनका सुझाव है कि विश्व के देश जो आज लगभग 26 लाख करोड़ रुपया अस्त्र-शस्त्र बनाने में व्यय कर रहे हैं, यदि उसका शतांश, या सहस्रांश भी प्रदूषण कम करने पर ख़र्च करें तो काफ़ी सुधार हो सकता है। कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा, और बहुत शीघ्र ही, क्योंकि उल्टी गिनती शुरू हो गई है और यह शोभनीय शस्य-श्यामला पृथ्वी ही संकट में नहीं है, साथ-साथ मानव-जाति भी प्रलय के कगार पर बैठी है। केवल अगले 80 वर्षों में विकासशील देशों के जलवायु में परिवर्तन के कारण 28 करोड़ टन अनाज की उपज कम हो जाएगी जिसका मूल्य 56 अरब 60 करोड़ डॉलर आँका गया है— यह सूचना इस वर्ष (2001) के 11 जुलाई के **पायनियर** समाचारपत्र में दी गई है जिसका आधार **21वीं सदी में जलवायु का सार्वभौम कृषि पर प्रभाव** की रपट है।

इस अनन्त ब्रह्माण्ड में केवल पृथ्वी ही ऐसा ग्रह है जहाँ चिन्तनशील मानव बसे हुए हैं। ब्रह्माण्ड की विशालता को स्वर्गीय **सर फ्रेड हॉयल** खगोल-शास्त्री ने बड़ी सुन्दर उपमा द्वारा दर्शाया है। वह कहते हैं : मान लीजिए आप एक बड़े उद्यान में बैठे हैं और आपके चारों ओर दो मील तक दो-दो गज़ की दूरी पर मधुमक्खियाँ फैली हुई हैं। अब एक-एक मधुमक्खी को आप आकाशगंगा—'गेलैक्सी'—मान लीजिए और प्रत्येक आकाशगंगा में हमारे जैसे सैकड़ों सूर्य, उनके ग्रहमण्डल और करोड़ों नक्षत्र होते हैं—कुछ ऐसा विस्तार है हमारे ब्रह्माण्ड का। इन समस्त मंदाकिनियों के किसी भी सौरमण्डल के एक भी ग्रह पर चिन्तन-मननशील प्राणियो का अभी तक पता नही चला है यद्यपि इस मनोरंजक विषय पर काफ़ी खोज की गई है, और आज भी अनुसंधान चल रहा है। **स्पेन्सर जोन्स** ने अपनी पुस्तक 'दूसरे लोकों पर जीवन' ('लाइफ ऑन अदर वर्ल्ड्स'-1955) और **स्टीफेन डोल** ने 'मानव के रहने योग्य ग्रह' ('हैबिटेबिल प्लेनेट्स फॉर मैन'-1964) में इस विषय पर विशेषरूप से काम किया है। और भी कितने ही खगोलज्ञ कार्यरत हैं। केवल **फ़्रेन्ज़ डी० कोहन** का यह निर्णय है (1972) कि 22 प्रकाशवर्ष की परिधि में कम से कम 43 ऐसे ग्रह अवश्य होने चाहिएँ

जिन पर मेधावी मानव रहते हों। कितने ही वर्षों से अमरीकी खगोलज्ञ **कार्ल सगन** सारी धरती पर उचित स्थानों पर शक्तिशाली 'एन्टिना' लगाकर अन्तरिक्षीय संदेशों को ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर अभी तक कहीं से कोई भनक तक नहीं मिली है। अतः यही मानना पड़ेगा कि इस अपार ब्रह्माण्ड में हमारी सुन्दर पृथ्वी अनूठी है, अद्वितीय है, अपूर्व है, अथवा इसको सुरक्षित रखना हमारा उत्तरदायित्व ही नहीं है, परम कर्त्तव्य है, नितान्त आवश्यक है।

विश्व के चिन्तक इस गंभीर संकट से भलीभाँति परिचित हैं। आबादी की रोकथाम और प्रदूषण को कम करने के बड़े-बड़े कार्यक्रम बन रहे हैं। सन् 1992 में रियो-दि-जनेरो में **पृथ्वी शिखर** सम्मेलन आयोजित किया गया। उस सम्मेलन के कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव थे : वायु और जल के प्रदूषण को रोकने के लिए तुरन्त कदम उठाए जाएँ, विषैली और रेडियोधर्मी रसायनों के रिसाव पर एकदम रोक लगा दी जाए, रेगिस्तानी एवं बरसाती प्रदेशों की रक्षा की जाए तथा कुपोषण को दूर किया जाए। नौ वर्ष हो गए, पर कहा जाता है कि धन के अभाव के कारण आशातीत प्रगति नहीं हो सकी। उसके पाँच वर्ष बाद 1997 में ग्रीनहाउस गैसों को कम करने के लिए **क्योटो प्रोटोकोल** तैयार किया गया, पर विश्व के सबसे शक्तिशाली एवं प्रभावशाली देश अमरीका ने इसके प्रारूप पर अभी तक (2001) हस्ताक्षर नहीं किए हैं। प्रदूषण को रोकना तो आसान है, पर एक बार यह फैल जाए तो उसको हटाना बहुत कठिन है। इसी तरह वनस्पतियों तथा पशु-पक्षियों की प्रजातियों की रक्षा करना अपेक्षाकृत सरल है, पर जो जातियाँ नष्ट हो गई हैं उनको पुनः जीवनदान देना असम्भव है। मानव-जाति को संकट का बोध तो है, पर 'विकास' के विकृत रूप पर विजय प्राप्त करने की क्षमता नहीं है। हम भौतिक उन्नति को ही विकास मान बैठे हैं, इन्द्रिय-सुख-प्राप्ति के पीछे दौड़ने को ही जीवन का परम लक्ष्य समझने लगे हैं और उस क्षणिक सुख को ही 'आनन्द' की संज्ञा देने लगे हैं। जब तक हम आध्यात्मिक उन्नति को अपना लक्ष्य नहीं बनाएँगे, भौतिकवाद हमें साधारण सुख देने में भी असमर्थ रहेगा। एक पाश्चात्य दार्शनिक का कहना है—"आनन्द को अन्दर पाना कठिन है, पर बाहर पाना असम्भव है।"

अब जलवायु के बढ़ते प्रदूषण तथा 'कार्बन डाइऑक्साइड' और 'मोनोक्साइड' जैसी विषैली गैसों के स्राव से स्वयं पृथ्वी का तिल-तिल क्षय हो रहा है और वह बड़ी तीव्र गति से प्रलय की ओर बढ़ रही है। विश्व के विद्वान् और वैज्ञानिक इस संकट को देख रहे हैं और उसकी रोकथाम के लिए भरसक प्रयत्नशील हैं। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जा रहा है,

वहाँ प्रस्ताव पारित किए जाते हैं, परामर्श दिए जाते हैं, विश्व की सरकारों तथा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं से उनको लागू करने का अनुरोध किया जाता है, पर जिस रफ्तार से सुधार हो रहा है उससे कहीं अधिक तेजी से क्षति बढ़ रही है।

इस विडम्बना का मुख्य कारण यह है कि सारे प्रयत्न, समस्त कार्यक्रम भौतिक स्तर पर हो रहे हैं। शिल्प-वैज्ञानिकों से परामर्श किया जा रहा है। वे प्रदूषण को कम करने या रोकने के नए-नए यंत्र बना रहे हैं जो कल-कारखानों और चिमनियों में लगाए जा रहे हैं। इन उपायों से थोड़ी-बहुत बचत हो रही है। पर परमावश्यक है मानव की वर्तमान मानसिकता को बदलने की, उसमें आमूल परिवर्तन लाने की और उसकी मनोवृत्ति में आध्यात्मिक पुट प्रतिष्ठित करने की। हमें अपने जीवन का परम लक्ष्य पुनः निर्धारित करना होगा, मन के उद्दण्ड घोड़े को लगाम लगानी होगी, इच्छाएँ सीमित करनी होंगी, यह हृदय-पटल पर अंकित करना होगा कि आनन्द बाहरी दौड़-धूप में नहीं है, अन्तर्मुखी होकर अन्दर ही अनुभव करना होगा। ममता, मोह, मत्सर, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा में आनन्द नहीं है। धनोपार्जन में परिश्रम, धन को सँभालकर रखने में कठिनाई और उसके व्यय करने में भी समस्या। भगवान् ईसू ने कहा है कि एक ऊँट सुई की आँख से भले ही निकल जाए, पर एक धनवान् ईश्वर के साम्राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता।

विश्व के बुद्धिजीवियों ने इस विषय पर काफी चिन्तन-मनन किया है। आज के पाश्चात्य मनीषियों में **एरिक फ्रोम, ह्वाइट हेड, शूमेकर** आदि अनेक विद्वान् हैं जिन्होंने विज्ञान के साथ-साथ धर्म की भी दुहाई दी है और इस बात पर बल दिया है कि अल्पमात्रा ही सुन्दर है, संयम एवं सन्तोष में ही सुख है, पल-पल परिवर्तनशील जगत के पीछे जो सत्य झाँक रहा है उसके दर्शन का भी प्रयत्न करो। यदि हम अपनी पृथ्वी को सुरक्षित एवं निरापद रखना चाहते हैं, सहज ही स्थायी सुख प्राप्त करने के इच्छुक हैं और परमानन्द का स्वाद लेना चाहते हैं तो हमें अपनी जीवनधारा को अध्यात्म की ओर मोड़ना होगा। यदि इस लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे तो साधारण सांसारिक सुख तो अनायास ही मिलते रहेंगे। उसके लिए अर्थशास्त्र, राजनीति, प्रबंधकौशल आदि के साथ-साथ हमें आध्यात्मिक पुस्तकों का भी अध्ययन करना आवश्यक है। हमारी तो यह मान्यता है कि विश्व के मनीषियों द्वारा रचित ये ग्रंथ, माध्यमिक शिक्षा के स्तर से ही पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने चाहिएँ जिससे किशोर अवस्था में सुन्दर संस्कार पड़ जाएँ। हम किसी धर्म-विशेष की शिक्षा की बात नहीं कर रहे; सार्वभौमिक, सर्वव्यापक, शुद्ध दर्शन तथा नैतिक पाठ्यक्रम पर बल दे रहे हैं जिसके द्वारा विद्यार्थीगण अपने जीवन का उचित लक्ष्य निर्धारित कर सकें

आनन्द की खोज प्राचीन भारत के मनीषियों का सबसे प्रिय विषय रहा है। वे आनन्द ही नहीं, सच्चिदानन्द की खोज के अनुसंधान में लगे रहे। वे प्राकृतिक वातावरण में रहना पसन्द करते थे और प्रकृति से प्रेम ही नहीं, उसकी उपासना करते थे। विश्व की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में प्राकृतिक विभूतियों के स्तवन में अति सुन्दर काव्यमय ऋचाएँ हैं। सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिए उन्होंने जो पद्धति अपनाई, वह आज की वैज्ञानिक विधि से भिन्न थी। उनकी मान्यता थी कि वह परम सत्य सर्वत्र विद्यमान है, पर उसका अनुभव करने के हेतु हमें कहीं बाहर नहीं जाना है, अन्दर झाँकना है एवं आत्म–अन्वेषण करना है। उसकी प्रक्रिया है बाहर के विषयों से मन को हटाकर आत्मा के सत्य पर ध्यान द्वारा मन को स्थिर करना। जैसे-जैसे मन जमने लगेगा, विकार—काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि—क्षीण होते जाएँगे और हम निर्मल आनन्द की ओर बढ़ते जाएँगे।

एक बात और स्पष्ट कर दें। भारत के कितने ही ऋषि विवाहित थे, उनके परिवार थे, जैसे उद्दालक, याज्ञवल्क्य, आदि। वे गुरुकुल चलाते थे, ऋषि-पत्नियाँ शिष्यों की देखभाल करती थीं, जैसी उस युग में प्रथा थी। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञान के मार्ग पर चलने के लिए, घरबार छोड़ना, वनों में वास करना नितान्त आवश्यक नहीं है; मनोवृत्ति को वाञ्छित मोड़ देना आवश्यक है। वैसे भी भारत के शास्त्रों में चार आश्रमों का विधान है। जीवन के पहले 25 वर्ष तक अपने तन और मन को स्वस्थ रखते हुए विद्या प्राप्त करना है। अगले लगभग 25 वर्ष में गृहस्थाश्रम में विवाह कर अपने बच्चों का धनोपार्जन द्वारा लालन-पालन करना है, समाज तथा विद्वानों एवं सन्त-महात्माओं की सेवा करना है, अतिथि-सत्कार का ध्यान रखना है। उसके बाद घर चलाने का उत्तरदायित्व अपनी सन्तान को सौंपकर वानप्रस्थ आश्रम में अधिकाधिक सत्य की, सच्चिदानन्द की खोज में चिन्तन-मनन करना है, और फिर यदि चाहें तो किसी एकान्तवास में चले जाएँ या घर में रहकर ही सारा समय पूजा-अर्चना-ध्यान तथा समाज-सेवा में लगाएँ। इस सामाजिक व्यवस्था पर विश्व के अन्य समाजशास्त्री भी विचार कर सकते हैं। इसकी वेद-शास्त्र में काफी चर्चा है।

वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी उपनिषद् हैं, इसलिए इनको वेदान्त भी कहते हैं। ये किसी विशेषधर्म अथवा मतमतान्तर से सम्बन्धित नहीं हैं। इनमे विशुद्ध दर्शन की व्याख्या की गई है। इनका संदेश समस्त मानव-जाति के लिए है और ये केवल भारत नहीं, सारे विश्व की धरोहर हैं। इनमें मानव-मस्तिष्क के अपूर्व, उदात्त, उत्कृष्ट विचार हैं। विश्व के जिन-जिन विद्वानों ने इनका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया, वे मंत्रमुग्ध हो गए। जर्मन दार्शनिक **शोपनहार** (1788-

1860) ने तो अभिभूत होकर यहाँ तक कह दिया है कि "उपनिषद् मेरे जीवन का सहारा रहे हैं और मेरी मृत्यु का अवलम्बन रहेंगे।" इनमें अत्यन्त गोपनीय आत्मज्ञान को बड़े सरल एवं सुन्दर ढंग से ब्रह्मवेत्ता ऋषियों ने परम प्रिय शिष्यों को पास बैठाकर (उप+नि+षद्) समझाया है। उन दिनों पुस्तक-पोथी तो थी नहीं, अतः बोले हुए शब्द का बहुत बड़ा महत्त्व था। जो गुरु कहते थे, शिष्य उन शब्दों को पूरे मनोयोग से सुनते-समझते थे और अपनी अमूल्य धरोहर की तरह सँजोकर हृदय में स्थापित कर लेते थे। कितने सौभाग्य की बात है कि आज यह उपनिषद्-ज्ञान हमें पुस्तकाकार उपलब्ध हैं, साथ ही उन पर अनेक टीकाएँ और भाष्य भी मौजूद हैं। हमें इनका पूरा लाभ उठाना चाहिए। हमारी मान्यता है कि यदि हम इस सुन्दर पृथ्वी को—और साथ ही सम्पूर्ण मानव-जाति को, जो इस समय विध्वंस के कगार पर टिकी हुई है—सर्वनाश से बचाना चाहते हैं तो हमें उपनिषदों के संदेश का यथासम्भव प्रचार एवं प्रसार करना चाहिए।

यों तो 200 से अधिक उपनिषद् कहे जाते हैं, पर भारत की अदयार स्थित **थियोसॉफिकल सोसाइटी** ने 200 प्राप्य उपनिषदों की सूची तैयार की है। इनमें 108 महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं, पर प्रातःस्मरणीय आदिशंकराचार्य ने केवल 11 उपनिषदों पर भाष्य लिखा है, और वे सर्वमान्य हैं। उन उपनिषदों के नाम हैं—**ईश**, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। वैसे उन्होंने कौशीतकी, जाबाल, महानारायण एवं पिंगल उपनिषदों की भी चर्चा की है। वेदों की संहिताओं में जहाँ ज्ञान, कर्म और उपासना का सुन्दर समन्वय है, वहाँ ब्राह्मण-भागों में कर्मकाण्ड एवं धार्मिक अनुष्ठानों की व्याख्या की गई है, पर उपनिषदों में केवल ज्ञानकाण्ड का ही विवेचन है और शुद्ध दर्शन का बड़े मनोरजंक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। कितने ही उपनिषदों का अंग्रेज़ी तथा जर्मन भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और कुछ का अन्य भाषाओं में भी। मुग़ल शहज़ादे **मुहम्मद दारा शिकोह** को उपनिषदों से इतना लगाव था कि उन्होंने लगभग 50 उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कर डाला (1656-57) जिनका **द्यूपेरों** ने लातिन में अनुवाद किया (1801-02)। ब्रिटिश बिद्वान् **कोलब्रुक** ने 52 उपनिषद् संगृहीत किए। उन्होंने उपनिषदों का अध्ययन किया तो वे उनसे अत्यन्त प्रेरित हुए। अमरीकन कवि **वाल्ट ह्विटमेन** कहते हैं कि "उपनिषदों में प्रतिपादित विचार समस्त मानव-जाति, समस्त युगों तथा समस्त प्रदेशों के लिए सराहनीय हैं" अर्थात् इनका सदेश सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है, वह कभी फीका नहीं पड़ता और प्रत्येक व्यक्ति उनसे लाभ उठा सकता है।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन उपनिषदों का रचनाकाल ई० पू० 800–300 नियत करते हैं। उनके मतानुसार ऐतरेय, कौशीतकी, छान्दोग्य, केन, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, ईश और कठ उपनिषदों की रचना ई० पू० आठ–सात शतक में हुई होगी। अत: महात्मा बुद्ध एवं महात्मा महावीर ने इनका अवश्य अध्ययन किया होगा। सारे उपनिषद् वैदिक साहित्य की श्रुति–श्रेणी में आते हैं। इनको कब लिपिबद्ध किया गया यह कहना कठिन है। सब का लक्ष्य पूर्णता को, परमानन्द ब्रह्म को प्राप्त करना है और प्रत्येक उपनिषद् ने इस विषय पर अपने–अपने अनूठे ढंग से प्रकाश डाला है। हमारे पूर्वजों में अत्यन्त रहस्यमय विषयों को बड़ी सरलता से प्रस्तुत करने की अद्‌भुत प्रतिभा थी। वे उपाख्यानों तथा कहानियों का सहारा लेकर विषय को मनोरजंक बना देते थे। **ऋषि उद्दालक** की अपने पुत्र श्वेतकेतु को विभिन्न प्रयोगों द्वारा शिक्षा, **याज्ञवल्क्य** का अपनी पत्नियों के साथ संवाद, प्रतिभाशाली **बालक नचिकेता** का यमराज से जीवन–मृत्यु का रहस्य जानने का हठ आदि विषय विषय विश्व–साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। यदि यह कहा जाए कि इतनी रहस्यमयी विद्या की ऐसी विशद व्याख्या विश्व में कहीं और देखने में नहीं आती तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उपनिषत्कारों ने जिस आदर्श को प्रस्तुत किया है वह सौन्दर्य की पराकाष्ठा है, ज्ञान का अन्तिम चरण एवं परम सत्य का दिव्य दर्शन है।

पाश्चात्य एवं प्राच्य विद्वानों के दृष्टिकोण में अन्तर दर्शाते हुए महात्मा अरविन्द स्पष्ट करते हैं कि एक का बल विश्लेषण पर रहता है, दूसरे का संश्लेषण पर। सुन्दर उपमा देते हुए वे कहते हैं : "पश्चिम–निवासियों का मन भूमध्यसागर के समान है जिसमें छोटे–छोटे द्वीप हैं, गोदियाँ हैं जहाँ व्यापारी माल चढ़ाते और उतारते हैं; पर पूर्वी प्रदेशों के विद्वानों का मन महासागर के समान है जहाँ अन्वेषक एवं खोजकर्ता, साहसी **कोलम्बस** की तरह, बड़ी यात्राओं पर निकल पड़ते हैं और नए–नए भूखण्डों का पता लगाते हैं।" एक तर्क–वितर्क तथा प्रयोगों को प्रधानता देते हैं, दूसरे साथ–साथ अखण्ड ध्यान एवं अन्त:प्रज्ञा का भी सहारा लेते हैं। एक तो उसे ही मानते हैं जो आँखों अथवा यंत्रों द्वारा देखा जा सके, या उसका अनुमान लगाया जा सके, दूसरों की मान्यता है कि अन्त:प्रज्ञा—'इन्ट्यूशन'—भी एक विश्वसनीय क्षमता है जिसे अटूट ध्यान द्वारा विकसित किया जा सकता है। दोनों का उद्देश्य यथार्थ को, सत्य को जानना है—और दोनों के निष्कर्ष भी बहुत–कुछ मिलते–जुलते हैं, पर मार्ग भिन्न हैं। संसार के कितने सन्त–महात्मा तथा दार्शनिक हैं जो पूरे आत्म–विश्वास से यह कह सकें जैसा भारत के कितने ही उपनिषत्कार ऋषि दावा करते हैं कि उन्होंने

सत्य को, ब्रह्म को जाना है, अनुभव किया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि उपनिषद् वेदों के कर्मकाण्ड के प्रति एक विद्रोह हैं। यह नितान्त भ्रान्तिपूर्ण विचार है। वस्तुत. उपनिषदों के मूल स्रोत तो **वेद** ही हैं और उन्हीं पर वे आधारित हैं। महर्षि अरविन्द का कहना है : "उपनिषद् वेदों के मर्म का, रहस्य का, उनके धार्मिक अनुष्ठानों तथा प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड का स्पष्टीकरण करते हैं, उनको उजागर करते हैं। उपनिषदों की आलंकारिक भाषा बहुत-कुछ वेदों पर आधारित है ।" इस कथन की पुष्टि में **उपनिषदों** पर अपनी पुस्तक (भाग 1, संस्करण-2000) में **तैत्तिरीय** तथा **ईश** उपनिषदों से कई उदाहरण भी उद्धृत करते हैं। विपुल वैदिक-साहित्य की अन्तिम कड़ी उपनिषद् हैं। उपनिषद्-ज्ञान के प्रसार से हम स्वयं ही आनन्दित नहीं होंगे, इस अद्वितीय भूलोक की भी आशंकित विध्वंस से रक्षा कर सकेंगे।

नई दिल्ली
अगस्त 2001

—डॉ० बलदेव सहाय
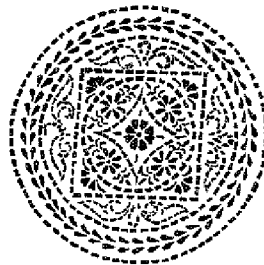
निवेदन

जैसे मधुमक्खियाँ सुगंधित पुष्पों को चूस, उस रस को स्वादिष्ट एवं स्वास्थ्य-वर्धक मधु के रूप में एकत्र करती हैं, उसी तरह भारत के ऋषि-मुनियों ने वेदों की संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों को पचाकर, तथा गहन ध्यान द्वारा आत्मान्वेषण कर, उनके सार को उपनिषदों के रूप में रचा है। प्रत्येक उपनिषद् की उत्पत्ति किसी न किसी वेद या ब्राह्मण की ओर संकेत करती है। एक उपनिषद् में अध्याय को 'वल्ली' कहा गया है—शिक्षा वल्ली, ब्रह्म वल्ली आदि। वल्ली का अर्थ है लता, जो किसी न किसी वेद-वृक्ष के सहारे ऊपर चढ़ती है, बढ़ती है, शक्ति प्राप्त करती है। उस युग में अधिकांश लोग ब्रह्मज्ञान द्वारा परमानन्द को प्राप्त करना जीवन का परमलक्ष्य मानते थे। साथ ही वे बड़े सफल संचारक थे। उन्होंने इस अत्यन्त गूढ़, गंभीर, रहस्यमय विषय को अपने परमप्रिय शिष्यों को पास बैठाकर, बड़े सरल एवं मनोरंजक ढंग से समझाया है—जैसे एक आत्मा दूसरी आत्मा में अपना ज्ञान उँडेल रहा हो—इसी से इनको उप-नि-षद् कहते हैं।

उपनिषद् मत-मतान्तरों से ऊपर हैं और शुद्ध दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। इनमें मानव-मस्तिष्क के उत्तमोत्तम एवं उदात्त विचार हैं। वे विचार सार्वभौमिक हैं, कालातीत हैं, सारी मानव-जाति की अमूल्य धरोहर हैं। विश्व में जिन-जिन ने इनका अध्ययन किया है वे धन्य हो गए हैं और उन्होंने इनके वैज्ञानिक दर्शन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

आजकल जो संसार में नैतिक पतन छाया हुआ है, भ्रष्टाचार एवं व्यभिचार दैनिक जीवन का अंग बन चुका है, प्राकृतिक सम्पदा का बलात्कार हो रहा है, इन सबका मूल कारण है व्यक्तिगत भोग-लोलुपता को सर्वोपरि मानना और उसके लिए जैसे भी हो धनोपार्जन को जीवन का लक्ष्य मानकर आचरण करना। प्रदूषण इतना बढ़ता जा रहा है कि इस शस्य-श्यामला पृथ्वी पर संकट के बादल छाए हुए हैं।

इस मानसिकता को बदलने में उपनिषद् बहुत बड़ी एवं सार्थक भूमिका निभा सकते हैं। पर अधिकांश उपनिषदों की भाषा प्रायः गूढ़, प्रतीकात्मक एवं रहस्यमयी है। जो भाष्य एवं टीकाएँ हैं वे भी कम कठिन नहीं हैं। इस अकिंचन का उद्देश्य ग्यारह प्रधान उपनिषदों का संदेश, वर्तमान वातावरण के संदर्भ में, जन-साधारण तक पहुँचाना है, और जहाँ तक हो सके उस संदेश को उनके

प्रतिदिन के जीवन के साथ जोड़ना है। लाभ तो तभी होगा जब, जो कुछ पाठकों ने जाना है उसे जीने का प्रयत्न करें। आजीवन एक व्यावसायिक संचारक होने के नाते प्रयास तो यही किया गया है कि इस संदेश को सीधे-सादे शब्दों में, कहानियों एवं उपाख्यानों की सहायता से, मनोरंजक बनाकर प्रस्तुत किया जाए।

हमने इन मुख्य उपनिषदों के कुछ चुनिन्दा मन्त्र ही लिये हैं जिन्हें समझकर लोग अपने दैनिक व्यवहार में अपना सकें, उनसे लाभ उठा सकें। इस प्रयास में बहुत-कुछ छूट गया है और इस धृष्टता का उत्तरदायित्व लेखक पर है। जो महानुभाव उपनिषदों का गहन अध्ययन करना चाहते हैं वे मूल उपनिषदों को पढ़ें, साथ ही आचार्यों तथा अन्य विद्वानों के उपलब्ध भाष्यों तथा टीकाओं से भी लाभ अर्जित करें।

यदि कुछ मुमुक्षुओं को उपनिषदों के इस सार को पढ़कर **आनन्द की खोज** में कुछ सहायता मिले और वे अध्यात्म की ओर उन्मुख हो सकें तो लेखक अपने तुच्छ प्रयास को सफल समझेगा। भगवान् से प्रार्थना है कि हमें सारी सृष्टि में व्याप्त ऋत् को देखने, सर्वत्र आत्मा के दर्शन करने तथा प्राकृतिक सौन्दर्य से आह्लादित होने की सद्बुद्धि दें, ताकि हम सबकी भलाई में अपनी भलाई समझें। तब नैतिकता हमारा स्वभाव बन जाएगी और प्राकृतिक सम्पदा को प्रदूषित करने का विचार भी हमारे मन में नहीं आएगा—

इमां धियं शिक्षमानस्य देव।
क्रतुं दक्षं वरुण संशिशाधि॥ *(ऋ. 8.42.3)*

मैं समस्त ऋषि-मुनियों तथा विद्वानों का आभारी हूँ जिनके ग्रंथों तथा श्रीमुख द्वारा मैंने ज्ञान अर्जित किया। मैं अपने सभी पूर्वजों, विशेष रूप से माता-पिता का, कृतज्ञ हूँ जिनके जप-तप के प्रताप से मेरी आध्यात्मिक रुचि जागी। मेरे पितामह श्री गोपाल सहाय ने जब मुझे 11 वर्ष की आयु में गीता-दर्शन से परिचित कराया तो जैसे मैं सोते से जाग गया, जैसे मुझे कस्तूरी मणि मिल गई हो। मैं अपने पुत्र-पुत्रियों तथा अन्य सम्बन्धियों एवं मित्रों का आभारी हूँ जो समय समय पर मेरा मार्गदर्शन करते रहे हैं। पुस्तक के शीर्षक का श्रेय मेरी धर्मपत्नी पुष्पा सहाय को जाता है। उन्होंने 'उपनिषदों का सार' के साथ 'आनन्द की खोज' और जोड़ दिया। मैं परम श्रद्धेय महामण्डलेश्वर श्री स्वामी असङ्गानन्द सरस्वती, साहित्य वेदान्ताचार्य, एम०ए० का अत्यन्त कृत्यज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि पढ़ अपना बहुमूल्य प्राक्कथन देने की कृपा की। साथ ही अपने प्रकाशक सर्वश्री विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, जिसके कर्णधार श्री अजयकुमार जी हैं, को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया।

—डॉ० बलदेव सहाय

1. जीवन की तीन अवस्थाएँ

हम सब सुख से परिचित है। आनन्द का स्वाद चखने का सौभाग्य बहुत कम लोगों का प्राप्त होता है। आनन्द शाश्वत है, सुख क्षणिक है जो आता है और चला जाता है। एक सत्य है, दूसरा असत्य। सत्यासत्य का बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण **गीता** के एक श्लोकार्ध में किया गया है—**नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः** अर्थात्, सत्य का कभी अभाव नहीं है और असत्य की कोई सत्ता नहीं है। जो वस्तु, व्यक्ति, विषय जैसा आज है वैसा कल नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा, वह आज भी न होने के बराबर है, मिथ्या है। जो कल था, आज है, भविष्य में भी वैसा ही रहेगा, केवल उसको ही सत्य जानो। हम ऐसे ही आनन्द की खोज में निकले हैं। हो सकता है उसकी तलाश में हम अपने-आप को समझने लग जाएँ और वहीं हमारी खोज समाप्त हो जाए। भारत के मनीषियों ने इस विषय का जितना अध्ययन किया है, इस पर अनुसंधान किया है, विश्व के शायद ही किसी अन्य देश ने किया हो। उपनिषदों का यह प्रमुख विषय रहा है और उन्होंने इसकी विशद व्याख्या की है। हम **आनन्द की खोज** इन्हीं उपनिषदों के आधार पर करेंगे। यह नितान्त विशुद्ध दार्शनिक खोज है, इसमें किसी विशेष धर्म अथवा मतमतान्तर की गन्ध तक नहीं आती, अतः यह ज्ञान समस्त मानव-जाति की धरोहर है। हमारी प्रक्रिया यह रहेगी कि हम जो जानते हैं उससे आरम्भ करें और उसी के सहारे जो नहीं जानते उस तक पहुँचने का प्रयत्न करें।

हमारा सारा जीवन मुख्यतः तीन अवस्थाओं से होकर बहता है—वे हैं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। चौथी एक अवस्था तुरीय भी होती है जिससे सम्भवतः अधिकांश लोग परिचित नहीं हैं। बड़ी दिलचस्प बात है कि जागते हुए हम उसको सत्य मानते हैं और सोते हुए सपने को भी वैसा ही सत्य। जागने पर हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं और सोते समय जाग्रत को। इन अवस्थाओं को जाननेवाली क्या भिन्न-भिन्न चेतनाएँ हैं या कोई ऐसी सत्ता है जो तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहती है? यदि ऐसी कोई सत्ता है तो वह क्या है?

माण्डूक्योपनिषद् में इस रहस्य का बड़ा सुन्दर और सटीक विवेचन किया गया है। यद्यपि यह केवल 12 श्लोकों का बहुत छोटा उपनिषद् है, पर यह बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एक तो यह उन ग्यारह उपनिषदों में है जिन पर प्रातःस्मरणीय आदिशंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, दूसरे, उनके गुरु भगवान् गौड़पाद ने इस पर अपनी सुप्रसिद्ध **कारिका** रची है जिसका भाष्य भी आदिशंकराचार्य ने लिखा है।

वेदों के चार भाग हैं—**संहिता**, जिसमें प्राकृतिक शक्तियों की उपासना के मंत्र हैं; **ब्राह्मण** जो कर्मकाण्ड-प्रधान है; **आरण्यक** जिनका वनों के एकान्त में अध्ययन करना अभीष्ट है; और **उपनिषद्** जो तत्त्वज्ञान के गूढ़ रहस्यों की व्याख्या करते हैं। विभिन्न उपनिषद् परमानन्द प्राप्त करने के अलग-अलग पक्षों पर प्रकाश डालते हैं, पर वे सब विशुद्ध, निर्मल दर्शन की चर्चा करते हैं। साथ ही सृष्टि की उत्पत्ति, जीवन-मृत्यु के रहस्य और सच्चिदानन्द की खोज की भी बात करते हैं। भारत के ऋषियों ने गम्भीर संयम और साधना द्वारा, अपने-आप में डूबकर, सत्य-सिंधु में ग़ोता लगा, उपनिषद् रूपी अमूल्य रत्न मानव-जाति के हित के लिए प्रस्तुत किए हैं। विश्व-साहित्य में इनका सानी नहीं मिलता। ये हम सब की अद्वितीय धरोहर हैं। सारे उपनिषदों का एक ही उद्देश्य है—दरिद्रता कैसे दूर हो, दुःखों से किस तरह छुटकारा मिले, अनन्त अबाध आनन्द कैसे प्राप्त हो?

दरिद्र वह है जो सदा अभाव अनुभव करे। एक बार कोई फ़क़ीर अकबर बादशाह के पास गया। बादशाह सलामत हाथ फैलाकर नमाज़ अदा कर रहे थे। यह देख फ़क़ीर लौट गया। जब अकबर की प्रार्थना समाप्त हुई तो उन्होंने फकीर को बुलवाकर कहा : "बुजुर्गवार, मुआफ़ करें, मैं खुदा के हुजूर में सजदा कर रहा था, फर्माइए, मैं आपकी क्या खिदमत कर सकता हूँ?" फ़क़ीर ने उत्तर दिया : "मैं तो तुझसे कुछ माँगने आया था, जब देखा कि तू भी किसी से कुछ माँग रहा है तो मैंने सोचा कि मैं भी उसी से सीधे क्यों न माँगूँ जिससे तू माँग रहा है" और चला गया। यदि अभाव आमूल दूर हो जाए तो इससे बढ़कर कौन-सी सम्पत्ति हो सकती है।

जीवन में उतार-चढ़ाव आते-जाते रहते हैं, सुख-दुःख होता रहता है और मन विक्षिप्त हो जाता है। यदि मन में समभाव समा जाए तो सुख-दुःख की तीव्रता कम हो जाती है। कहा भी है **समत्वं योगः उच्यते** (गीता : II-48)। उपनिषद् मन को सम रखने का मार्ग दिखाते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर जाती हैं। वे बहिर्मुखी हैं—**जाग्रत स्थानो बहिःप्रज्ञः**। इनसे सुख भी मिलता है पर वह सुख स्वाद, सिहरन अस्थायी होती है। स्थायी आनन्द तो परमानन्द से सम्पर्क

स्थापित करने से ही प्राप्त हो सकता है। तदुपरांत किसी प्रकार का दुःख पास नहीं फटकता, जैसे सूर्य के प्रकाश में अन्धकार नहीं रह सकता। उपनिषद् हमे सच्चिदानन्द की ओर प्रेरित करते हैं जिसे कोई अल्लाह कहता है, कोई ईसू, जेहोवा और ब्रह्म। पर लक्ष्य सब उपासकों का एक ही है—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी सत्ता से आत्मसात् होना। उपनिषद् उसी सत्ता को समझने का उपाय बताते हैं। पत्तों पर पानी छिड़कने से क्या लाभ? जड़ को सींचना चाहिए।

हम कुछ मुख्य उपनिषदों की मुख्य बातें बताने का प्रयास करेंगे और वे इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहेंगे जो जनसाधारण समझकर अपने जीवन मे यथासम्भव उतार सकें। हम जन्म से ही अनित्य, असत्य, अपूर्ण का चिन्तन करते आ रहे हैं। इन्द्रिय-सुखों की ओर लपकना हमारी आदत बन चुकी है। हम क्षणिक सुख पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। पर पूर्ण की प्राप्ति तो केवल पूर्ण के ही चिन्तन से होगी। अतः हो सकता है कुछ पाठकगण एक नए, अनजान, अपरिचित मार्ग पर चलने जा रहे हों। चिन्तन की दिशा मोड़ने में समय तो लगेगा ही। चिन्ता न करें, दृढ़ संकल्प एवं परिश्रम द्वारा शनैः-शनैः सब-कुछ सुलभ होता जाएगा। शिक्षा-दीक्षा में भी तो वर्षों लग जाते हैं और बाद में फल दिखाई देता है। इस मार्ग पर आप जब चलना शुरू करेंगे तो साथ ही फल भी अनुभव होने लगेगा। उससे आपके उत्साह एवं उल्लास में वृद्धि होगी और आगे का मार्ग अनायास ही प्रशस्त होता चला जाएगा। केवल पहला कदम उठाने का प्रयास ही नहीं, प्रण करना होगा। माण्डूक्योपनिषद् **अथर्ववेद** का उपनिषद् है। पहले मंत्र मे ओंकार की महिमा बताई गई है। दूसरे में **सर्वं ह्येतद् ब्रह्म**—यह सब ब्रह्म है बताया गया है। हम तीसरे मंत्र से आरम्भ कर रहे हैं।

2. उन्नीस मुख सात अंग

जाग्रत अवस्था की जानकारी हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं। हम देखते हैं, सुनते हैं, स्वाद लेते हैं, सर्दी-गर्मी अनुभव करते हैं, इत्यादि। कुछ संवेदनाएँ क्षीण होती हैं, विलीन हो जाती हैं, शेष का हम मूल्यांकन करते हैं। कोई-कोई हमें अच्छी लगती है और कुछ बुरी। जो अच्छी लगती हैं उनकी ओर हम बार-

बार खिंचते हैं, उनसे हमें राग हो जाता है। जो बुरी मालूम होती हैं उनसे दूर रहना चाहते हैं। रागरंजित अथवा द्वेषदूषित होना भी एक प्रतिक्रिया है और इस आधार पर हमारे व्यवहार का, कर्मो का प्रतिरूप निर्धारित होता है। यह हमारी जाग्रत अवस्था का संक्षिप्त सांसारिक व्यापार है।

कुछ दार्शनिक जगत को मिथ्या मानते हैं और इन्द्रियों तथा उनके विषयों को मायाजाल, जिसमें फँसकर मानव जन्म-जन्मान्तर तक यातनाएँ झेलता रहता है। **माण्डूक्योपनिषद्** इन्द्रियजन्य जगत को भुलावा नहीं मानता, नकारता नहीं, उसका व्यापक विश्लेषण करता है और उसी के आधार पर आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करता है। जो हमारी आँखें देख रही है, कान सुन रहे हैं, मन मनन कर रहा है, बुद्धि-विवेक विश्लेषण कर रहा है वह सब असत्य है—यह बात साधारणतया गले नहीं उतरती। उपनिषद् पिण्ड तथा उसकी इन्द्रियों की ही बात नहीं करता, बाह्य जगत में ग्रह-नक्षत्र, चाँद-सूरज, वायुमण्डल, पृथ्वी, जल तथा उनके जीव-जन्तुओं को भी शामिल कर लेता है और पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में एक अटूट सम्बध स्थापित करता है। मानव विश्व का लघु रूप है जिसका एक विराट रूप भी है; दोनों स्थूल हैं और उनका द्रष्टा अत्यंत सूक्ष्म, कण-कण में व्याप्त आत्मा है। इस तरह यहाँ पिण्ड और ब्रह्माण्ड, व्यष्टि और समष्टि, जीव और ईश्वर दोनों का समन्वय किया गया है। हम केवल इस शरीर तक सीमित नहीं हैं, हमारे बाहर ब्रह्माण्ड है और ये दोनों अभिन्न हैं—इस तथ्य पर भरपूर बल दिया गया है। जाग्रत अवस्था में ही हम सारे कार्य करते हैं, सम्बन्ध स्थापित करते हैं, हमारे संस्कार बनते है जिनके आधार पर अगले जन्म की नींव पड़ती है; अथवा, यह जगत असत्य नहीं है, आत्मा का स्थूल रूप है इसलिए इस अवस्था को आत्मा का पहला चरण कहा गया है।

माण्डूक्योपनिषद् का प्रत्येक मंत्र अणुअनुरूप सूक्ष्म है और अणु के समान ही वह अनन्त शक्ति का केन्द्र है। किसी भी मंत्र की पूर्णरूपेण व्याख्या करना कठिन है, हम उसके मूल अर्थ को बताने का प्रयास करेंगे। आत्मज्ञान कहने-सुनने-पढने का विषय तो है नहीं, केवल अन्तस्तल में अनुभव किया जा सकता है। पाठक उस पर जितना चिन्तन-मनन करेंगे, उतना ही अन्तर् में उसका प्रकाश फैलेगा। जाग्रत अवस्था जिसका स्थान है वह जीव और ईश के बीच सेतु जैसा प्रस्तुत किया गया है, उसको नकारा नहीं गया है। यह जाग्रत स्थान बहि:प्रज्ञः है—सदा बहिर्मुखी रहना इसका स्वभाव है, इस अवस्था में हमारी इन्द्रियाँ सदा अपने-अपने विषयों की ओर बाहर उन्मुख रहती हैं। जो कुछ बाहर हो रहा है वह हम सब-कुछ देखते हैं, सुनते हैं, जान सकते हैं। हमारे अन्दर क्या हो रहा है वह हम नहीं जानते; हम यह भी नहीं

देख सकते हमारे उदर में क्या है, हमारे मन में क्या खिचड़ी पक रही है। अर्धचेतन और अचेतन मन की बात जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

बाह्यजगत की जानकारी हमको उन्नीस मुखों द्वारा प्राप्त होती है—**एकोनविंशति मुखः**। ये 19 मुख क्या हैं? वे हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच वायु, और चार अन्तःकरण-चतुष्टय। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—हाथ, पैर, वाणी, उपस्थ और गुदा। पाँच वायु हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। ये 15 इन्द्रियाँ जैसे आत्मा के बाहरी क्रियाशील आवरण हैं। चार इन्द्रियाँ अन्दर हैं जो दिखाई नहीं देतीं, उनको अन्तःकरण कहते है। वे हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। **मन** से हम चिन्तन-मनन करते हैं—यह प्रत्येक इन्द्रिय के साथ रहता है, बिना इसके सहयोग के आँख देखते हुए भी अनदेखी कर देती है इत्यादि। **बुद्धि** से हम अच्छे-बुरे का निर्णय करते हैं। **चित्त** में मुख्यतः स्मृतियाँ निहित रहती हैं जो आवश्यकतानुसार उभरकर सामने आ जाती हैं, और **अहं**—मैं हूँ, मैं-पन, 'मेरा'—यह तो सदा हमारे साथ रहता है, अन्तिम समय तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता।

अतः इन्द्रिय-जनित बाह्य जगत है और अन्तःकरण अन्तर्जगत है। इनके अतिरिक्त एक ईश्वर-सृष्टि है, दूसरी जीव-सृष्टि। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, वनस्पति, जीव-जन्तु आदि को ईश्वर-सृष्टि कहा जाएगा। यह सृष्टि स्वच्छ, सुन्दर, अनन्त, मन को आह्लादित करनेवाली है। इसमे मानव अपनी सुविधा के लिए भवन-निर्माण करता है, कल-कारखाने खड़े करता है, सड़कें बिछाता है, रेल की पटरियाँ डालता है, नदियों पर बाँध बाँधता है, धरती का हृदय चीरकर खनन करता है, अपनी सुविधा एवं स्वार्थ के लिए क्या-कुछ नहीं करता! और जब ईश्वरप्रदत्त सृष्टि की लूट-खसोट का अतिक्रमण हो जाता है तो उनके दुष्परिणामों के लिए अपने को नहीं, भगवान् को उत्तरदायी ठहराता है। इसका एक दूसरा पक्ष भी है—हम ईश्वर-सृष्टि से विशेष सरोकार नहीं रखते, हमें स्वयं-रचित सृष्टि से अत्यन्त लगाव है। संसार की अनेक वस्तुओं से मेरा कोई लेना-देना नहीं है, पर किसी वस्तु के साथ मेरा क्या सम्बंध है यह मेरे लिए बड़े महत्त्व की बात है। जिनसे मेरा सम्बंध छूट जाता है उनके प्रति मैं उदासीन हो जाता हूँ, और जिनसे नाता जुड़ता जाता है वे मेरे लिए अत्यंत प्रिय एवं मूल्यवान् हो जाते हैं। हम सब ईश्वर-सृष्टि के अतिरिक्त एक दूसरी दुनिया, अपनी निजी दुनिया, निर्मित कर लेते हैं और उसके बंधन में बँधे रहते हैं, यही संसार है। मैंने एक भवन का निर्माण किया, मुझे वह बहुत प्रिय है, मुझे उसकी एक-एक ईंट से आसक्ति है। मान लीजिए किसी कारणवश मैंने उसे बेच दिया। कुछ समय बाद

किसी भूकम्प में वह धराशायी हो जाता है तो मालिक तो हतप्रभ हो जाता है, किंतु मुझे उतनी चोट नहीं पहुँचती क्योंकि अब वह 'मेरा' मकान नहीं है। 'मैं और मेरा' का संसार, और शेष सारा संसार भी 'बहिःप्रज्ञा' के अन्तर्गत आते हैं।

तनिक ध्यान दें—मुझे सदैव किसी न किसी अन्य वस्तु की ही चेतना रहती है। जो हम देखते हैं, सुनते हैं, अथवा जो कुछ विचार भी करते हैं वे सब किसी भौतिक विषय, व्यक्ति या वस्तु के बारे में ही होता है और सारा जीवन स्थूल, भौतिक विचारधारा में बह जाता है। हमें कभी 'अपनी' चेतना नहीं होती। अपनी से तात्पर्य अपने शरीर अथवा सामानादि से नहीं है, वे भी भौतिक हैं। बात जरा बारीक है, गंभीरता से विचार करें—हम बाहर का ही सब-कुछ देखते हैं, सोचते हैं, ध्यान देते हैं; स्वयं अपनी चेतना को नहीं देखते, नहीं देख पाते। जब चेतना होती है तो बाहर की, किसी भौतिक वस्तु की; हम क्या हैं—इसकी चेतना हमें छूती तक नहीं, और हम सबसे परिचित होने पर भी अपने-आप से सदा अपरिचित रहते हैं। अपनी निजी चेतना अनुभव करने का एक उपाय है—**जब आपको अपनी चेतना हो, तो किसी भी अन्य वस्तु की चेतना न हो**। अभ्यास करें, यह सम्भव है। स्वयं की, और केवल स्वयं की चेतना होने से आप अपार शान्ति अनुभव करेंगे, और अनन्त ऊर्जा भी। जाग्रत अवस्था में जगत की वस्तुओं की चेतना 'विश्वा' को होती है, यह चेतना आत्मा से अनुप्राणित है, और जब एकमात्र अपनी आत्मा की चेतना होती है तब वह वैश्वानर कहलाता है, विराट कहलाता है। इस मंत्र में विश्वा और वैश्वानर के समन्वय का संदेश है—जीव और ईश्वर, व्यष्टि और समष्टि के मिलने का संदेश है।

विराट की व्याख्या 'सप्तांग' द्वारा की गई है। सप्तांग का अर्थ है जिसके सात अंग हैं। सर्वोपरि द्युलोक, आकाशगंगा, सौर्यमण्डल आदि हैं। फिर वायुमण्डल है, दिशाएँ हैं; सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रह-नक्षत्र हैं; जल है, पृथ्वी है इत्यादि। यह सब बहिःप्रज्ञः के अन्तर्गत आते हैं, पर उनका विराट स्वरूप हैं। इस भाव को **अथर्ववेद** के ही दूसरे उपनिषद् **मुण्डक** ने और भी स्पष्ट रूप से समझाया है। उसका मंत्र है :

अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्च वेदाः,
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।

अर्थात् द्युलोक जिसका सिर है, नेत्र चन्द्र एवं सूर्य हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, वेद वाणी है, वायु प्राण है, सारी सृष्टि हृदय है और पृथ्वीलोक पद हैं—ऐसा यह सर्वव्यापी आत्मा का विराट स्वरूप है। यह वही विराट रूप है जिसके भगवान् कृष्ण ने अर्जुन

को कुरुक्षेत्र के मैदान में दर्शन कराए थे, जो श्री गीता के ग्यारहवें अध्याय में वर्णित है, अथवा जिसका माता यशोदा को बालक कृष्ण के खुले मुख में दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तात्पर्य यह है कि जीव—आप और हम—ईश्वर का अभिन्न अंग हैं। जाग्रतावस्था में इस भाव को निरन्तर दृढ़ करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस अवस्था में जो कुछ हम देखते हैं, सोचते-समझते हैं, वे सब स्थूल हैं, पर इसी के सहारे हमको अनन्त, विराट आत्मा का ध्यान करना अभीष्ट है।

यह उपनिषद् का तीसरा मंत्र है जो इस प्रकार है :

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्
वैश्वानरः प्रथमः पादः।

इसे कहते हैं गागर में सागर भरना। मंत्र में सप्ताङ्ग, उन्नीस मुख की बात के पूर्व प्रयुक्त हुआ है। हमने उसको पहले ले लिया है क्योंकि ये इन्द्रियाँ हमारे साथ अधिक जुड़ी हुई हैं और हम उनके कार्यकलाप को भली-भाँति जानते हैं, समझते हैं। इन सबको 'मुख' की संज्ञा इसलिए दी गई है क्योंकि सारे विषय विभिन्न इन्द्रियों के उसी प्रकार से 'आहार' हैं जैसे भोजन मुख का आहार है। जाग्रत अवस्था में हमें नाम-रूपात्मक जगत का केवल स्थूल रूप ही दिखाई देता है। वह सब चैतन्य विराट रूप से अनुप्राणित होता है। वह आत्मा विभिन्न वस्तुओं में सत्त्व, रज और तम प्रकृति के तीन गुणों द्वारा अलग-अलग मात्रा में प्रस्फुटित होती है। जैसे बिजलीघर एक है जिससे बिजली के सारे लट्टू प्रकाशवान होते हैं, पर कोई 1000 वॉट का होता है, कोई 100 और जीरो वाट का। जिस बल्ब को जितनी क्षमता है वह उतना प्रकाश देता है। यह केवल हमारे ऊपर निर्भर है कि हम उस सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी आत्मा से कितनी ऊर्जा आत्मसात् करते हैं।

3. जीवन-बन्धनों से मुक्ति

जाग्रत अवस्था की हलचल के बाद हमारे जीवन का अधिकांश भाग निद्रा की गोद में व्यतीत होता है। नवजात शिशु का तो लगभग 20-21 घण्टे प्रतिदिन सोना आवश्यक है, बालक भी 10-12 घण्टे सोते हैं, उसके बाद 7-8 घण्टों में नींद पूरी हो जाती है. वृद्धावस्था में नींद कम होती है और कुछ लोगों को तो नींद

की गोली खाकर सोना पड़ता है। सोने पर लगभग सबको ही सपने आते हैं। यह बड़ी रहस्यमयी अवस्था है। इस पर भारत और विदेश में बहुत-कुछ अनुसंधान हुआ है, पर गुत्थी अभी तक सुलझी नही है। हम विभिन्न मतों पर विचार करेंगे क्योंकि हो सकता है इस अवस्था के गम्भीर अध्ययन से हमें आत्मा के स्वरूप को समझने में सहायता मिले। **माण्डूक्योपनिषद्** का अगला मंत्र इसी अवस्था का निरूपण करता है।

निद्रा में भी उन्नीस इन्द्रियाँ—पाँच-पाँच ज्ञान और कर्म इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण (जिनका वर्णन हम पिछले लेख में कर चुके हैं)—विद्यमान रहती हैं। आत्मा का विराट रूप, सप्तांग अर्थात् सात अंग—प्रकाशक्षेत्र, सूर्य-चन्द्र, दिशाएँ, वायु, वेद, विश्व और पृथ्वी—भी बने रहते हैं। पर जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में आमूल अन्तर हैं। जाग्रत में सारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं, स्वप्न में अन्तर्मुखी—अन्तःप्रज्ञः, और जीव सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा भोग करता है, अतः यह भोग विचारमय, भावमय जगत का भोग है। इसलिए यह स्थूलभुक् न होकर प्रविविक्तभुक् कहा गया है। जाग्रतावस्था में जीवात्मा वैश्वानर है, भिन्न-भिन्न नरों के शरीर ही आत्मा के शरीर हैं; स्वप्नावस्था में जीवात्मा का शरीर तैजस है, सूक्ष्म है। यह आत्मा का दूसरा चरण है। मंत्र इस प्रकार है :

स्वप्नस्थानो अन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।

सामान्य धारणा यह है कि जागते समय हम वास्तविक वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं और सोते हुए काल्पनिक वस्तुओं के, जागते हुए हमें सच्चा सुख-दुःख अनुभव होता है और सपने में झूठा। जाग्रत जगत को हम स्वयं उत्पन्न नहीं करते पर सपनों की दुनिया हमारी कल्पना निर्मित करती है। अतः हमने मान लिया है कि जाग्रत अवस्था सत्य है और स्वप्नावस्था असत्य। ऐसी मान्यता सत्य तो अवश्य प्रतीत होती है, पर नितान्त सत्य नहीं है क्योंकि यह धारणा केवल एकपक्षीय विवेचन पर आधारित है। स्वप्नावस्था को हम जाग्रत जगत की तुलना में असत्य मानते हैं और जागते हुए सपनों को असत्य। पर जब हम जाग रहे होते हैं तो हमें स्वप्नावस्था का ज्ञान नहीं होता और सपने में जागने की अवस्था को नहीं जानते। दोनों अवस्थाओं के सत्यासत्य का निर्णय केवल ऐसी सत्ता कर सकती है जिसको दोनों अवस्थाओं का एक-साथ परिचय प्राप्त हो।

किसी न्यायालय में एक मुकदमा आता है। किसी भी 'केस' में दो पक्ष होते हैं। प्रत्येक अपनी-अपनी बात करता है, अपने पक्ष के समर्थन में दलीलें

देता है, गवाह पेश करता है। एक तीसरा निष्पक्ष न्यायाधीश दोनों पक्षों की बात सुनता है, गवाहों के बयान पर ध्यान देता है, अधिवक्ताओं के तर्क-वितर्क का निरीक्षण करता है और तब अपना निर्णय सुनाता है; केवल एक पक्ष की बात सुनकर फैसला नहीं देता। जागने और सोने के संदर्भ में आप दोनों पक्षों की बात तो सुनते नहीं, फिर भी आप दोनों के बारे में दावे से अपना मन्तव्य देने में नहीं चूकते। ऐसा आप इसलिए करते हैं क्योंकि आप दोनों अवस्थाओं को अलग-अलग तो जानते ही हैं और एक अवस्था से दिन में और दूसरी से रात में जीवन-पर्यन्त गुज़रते हैं। वह कौन है जो गुज़रता है दोनों अवस्थाओं द्वारा—यह विचार का विषय है और **माण्डूक्योपनिषद्** साधारण मान्यताओं से कुछ अलग हटकर इस तथ्य का गंभीरता से विवेचन करता है।

हमारी माताएँ-बहनें भिन्न-भिन्न भोजन-सामग्री लेकर तरह-तरह के व्यंजन रसोई में तैयार करती हैं। जब हमको क्षुधा सताती है, जाग्रत अवस्था में हम उस भोजन को खा अपनी भूख शांत करते हैं। सपने का भोजन तो हमको तृप्त नहीं कर सकता। जागते हुए हम लोगों से मिलते-जुलते हैं, सम्बन्ध बनाते हैं, ऑफिस जाते हैं, कार्यरत होते हुए किसी के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, अन्य के साथ बुरा। यदि किसी न्यायालय में कोई मुकदमा चल रहा हो तो जीतने पर हम उत्सव मनाते हैं, हारने पर मुँह लटक जाता है, दुःखी होते हैं। सत्य को हम सब स्वीकार कर लेते हैं। पर स्वप्न में भी तो हम तरह-तरह के व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, उनके साथ राग या द्वेषपूर्ण व्यवहार करते हैं। कोई घटना अनुकूल घटित होती है तो प्रसन्न होते हैं. जब कुछ प्रतिकूल होता है तो दुःख के सागर मे डूब जाते हैं। जिस प्रकार जागते हुए हम ममता, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, काम से उद्वेलित होते हैं, ठीक उसी तरह स्वप्न में भी होते हैं। जैसे जागते समय सारी घटनाएँ एवं भावावेश हमको यथार्थ प्रतीत होते हैं, उसी तरह स्वप्न में उतने ही सत्य अनुभव होते हैं। फिर हम एक को सत्य और दूसरे को असत्य क्यों कहते हैं? यह ठीक है कि सपने का भोजन जागने में उत्पन्न क्षुधा को शांत नहीं कर पाता, पर स्वप्न की क्षुधा को तो वह अवश्य शांत करता है। फिर जागने की क्षुधा की आप सपने के भोजन के साथ क्यों तुलना करते हैं? यह तो एकदम युक्तियुक्त नहीं है। सपने की क्षुधा को सपने के भोजन और जागने की क्षुधा को जागने के भोजन से ही तालमेल करना उचित है। यदि सपने के भोजन से जाग्रत अवस्था की भूख समाप्त नहीं हो सकती, तो जागते समय के भोजन से सपने की क्षुधा की भी तुष्टि नहीं होती। दोनों अलग-अलग अवस्थाएँ हैं और दोनों अपनी-अपनी जगह पर सत्य प्रतीत होती हैं। इसकी जानकारी उस सत्ता को है जो दोनों में से समान रूप से गुज़रती है

एक दार्शनिक का कहना है कि जाग्रत अवस्था का एक राजा प्रतिदिन 12 घण्टे भिखारी होने का स्वप्न देखता है और उसी अवस्था का एक भिखारी प्रतिदिन बारह घण्टे राजा होने का सपना देखता है। दोनों बारह घण्टे भिखारी और उतने ही समय राजा बने रहते हैं, तो उनमें क्या अन्तर है? कौन राजा और कौन भिखारी है? आप कहेंगे जाग्रत अवस्था की बात ठीक है और सपना तो सपना ही होता है। यहाँ फिर आप निष्पक्ष तुलना करने से भटक गए। यह जाग्रत अवस्था का मन है जो जाग्रत जगत को सच्चा होने का दावा करता है। उसी तरह सोते हुए व्यक्ति का मन सपने के बारे में ऐसा दावा कर सकता है। प्रत्येक अपने-अपने पक्ष की बात कर रहा है, कोई भी निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता। क्या सपने में अनुभव किया हुआ सुख या दुःख जाग्रत अवस्था के सुख या दुःख जैसा नहीं होता? कभी-कभी तो सपने में रोते-रोते हमारी सिसकियाँ बँध जाती हैं, डर के कारण हमारा शरीर काँपने लगता है—इतनी यथार्थ होती हैं सपने की संवेदनाएँ। वे उतनी ही सच्ची होती हैं जैसी जाग्रत अवस्था की संवेदनाएँ। अतः, यदि आप दोनों अवस्थाओं का निष्पक्ष, निःस्वार्थ, अनासक्त भाव से विश्लेषण करें तो बड़ी द्विविधा में पड़ जाएँगे। सम्भवतः अब भी आप उलझन अनुभव कर रहे होंगे।

जाग्रत अवस्था का रज्जु-सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए। एक रस्सी का टुकड़ा आपको साँप जैसा दिखाई देता है। साँप है नहीं, पर आप डरकर उछल पड़ते हैं क्योंकि आपने रस्सी नहीं देखी, केवल साँप देखा। बाद में निरीक्षण से पता चला कि वह साँप नहीं, रस्सी है। पर आप यह नहीं कह सकते कि साँप की धारणा असत्य थी। यदि असत्य थी तो आप डरे क्यों और अपने को उस कृत्रिम साँप से बचाने के लिए छलाँग क्यों लगाई? कारण यह है कि देखते समय सर्प असत्य नहीं था और जब आपने रज्जु को पहचान लिया तब साँप लोप हो गया। इसी तरह जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं की तुलना करनी चाहिए। आपको जाग्रत अवस्था उसी प्रकार सत्य प्रतीत होती है जिस प्रकार रज्जु में सर्प सत्य भासता है, और जिस तरह आप रस्सी में साँप देखकर कूदने-फाँदने लगते हैं, उसी तरह जाग्रत जगत की वस्तु, व्यक्ति, विषय हमको विचलित करते रहते हैं। हम उनके साथ चिपकते हैं, नित्य नवीन सम्बंधों को बना-बनाकर कभी हँसते हैं कभी रोते हैं, पर जब हम कोई दीपक लाते हैं तब उसके प्रकाश में पता चलता है कि वास्तविकता क्या है—यह साँप नहीं, केवल रस्सी का एक टुकड़ा है। उपनिषद् इसी प्रकाश की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है—दीपक का प्रकाश नहीं, ज्ञान का प्रकाश, जिसकी दमक से संसाररूपी सर्प लोप हो जाएगा और हम उस सत्ता के दर्शन कर सकेंगे जो जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में निर्बाध रूप से बहती है।
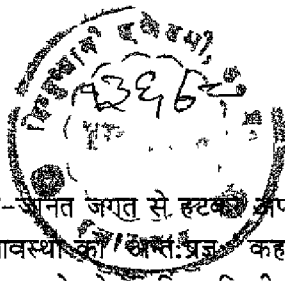
स्वप्न में मन इन्द्रिय-जनित जगत से हटकर अपने-आप में लीन हो जाता है। इसीलिए मंत्र में स्वप्नावस्था को 'अन्तःप्रज्ञ' कहा गया है। सपने में आँखें बन्द होने पर भी हम सब-कुछ देखते हैं; जिह्वा किसी भोज्य पदार्थ के सम्पर्क में नहीं आती पर हम तरह-तरह के स्वाद लेते हैं। यदि कान और नासिका बन्द भी कर दिए जाएं तब भी हम सब-कुछ सुनते हैं और गंध का अनुभव करते हैं। इस अवस्था में मन ही विभिन्न इन्द्रियाँ बनकर एक अद्भुत संसार सृष्ट कर उसको भोगता है जैसे जाग्रतावस्था में वह जाग्रत संसार को भोगता है। कुछ दार्शनिकों का यह भी कहना है कि जैसे हमारा मन सपनों का संसार रचता है, उसी तरह हमारा मन ही जाग्रतावस्था के संसार को सृष्ट करता है; और जैसे जागने पर सपने लोप हो जाते है, उसी तरह मानव जब एक और गहरी नींद से जागता है, मायाजाल से मुक्त होता है तो यह सत्य प्रतीत होनेवाला संसार भी लोप हो जाता है। जब नरेन (जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से सारे संसार में प्रसिद्ध हुए) ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस से कहा : "यदि भगवान् है तो क्या आप मुझे उसके दर्शन करा सकते हैं ?" तो एक दिन परमहंस जी ने उनको अपनी तर्जनी से छू दिया और युवा नरेन्द्र दत्त एक अनिर्वचनीय आनन्द में डूब गए, उनको संसार की प्रत्येक वस्तु एक नए ढंग से दिखाई देने लगी, और वह लगभग 10-15 दिन तक आनन्दातिरेक अवस्था में रहे। तब एक दिन पास बिठाकर परमहंस जी ने उनकी इस अवस्था को वापस ले लिया और कहा--"इस असीम आनन्द के तुम्हें अब तभी दर्शन होंगे जब तुम मेरा काम संसार में पूरा कर दोगे।"

जीवात्मा जाग्रत--स्थान में स्थूल शरीर है, इसे वैश्वानर कहते हैं; स्वप्न-स्थान में वह सूक्ष्म शरीर है, इसे तैजस कहते हैं क्योंकि तब शरीर का अन्धकारमय आवरण हट जाता है और वह चमक उठता है। जब ब्रह्म स्वप्नस्थान में होता है तब सम्पूर्ण सृष्टि सूक्ष्म रूम में उसके विचार में होती है। जैसे कोई भवन-निर्माण करनेवाला, पहले भवन की रूपरेखा अपने मन में बनाता है फिर उसका नक्शा बनाता है और वह एक काल्पनिक भवन का आनन्द भी भोगने लगता है, इसी तरह ब्रह्म स्वप्नस्थान में, अपने विचार में बिना विश्व की रचना किए, विश्व-रचना का आनन्द भोग लेता है, इसलिए उसे भी जीवात्मा की तरह 'प्रविविक्तभुक्' अर्थात् 'विचार या विवेक में जिसने भोग लिया' यह कहा गया है।

अतः हमारी स्वप्नावस्था जाग्रतावस्था से कहीं अधिक गहन, गंभीर और रहस्यमयी लगती है। इसकी अभी और व्याख्या करने की आवश्यकता है जिससे हमें आत्मा का स्वरूप जानने में सहायता मिल सके।

4. सपनों का सदुपयोग

सपने क्या केवल सपने ही होते हैं या उनका कोई प्रयोजन है, सार्थकता है, अर्थ है ? हमारे जीवन का कम से कम एक-तिहाई भाग सोने में चला जाता है। क्या व्यक्तिगत रूप में हम इस समय का कोई सदुपयोग कर सकते है, या सामूहिक ढंग से कोई लाभ उठा सकते हैं, कुछ समस्याओं को सुलझाने के काम में ला सकते हैं, अथवा अपने-आप को, अपनी आत्मा को समझने में सहायता ले सकते हैं ? यदि सपनों से कुछ सीखना सम्भव हो तो हमारा जीवन अवश्य ही और भी उन्नत, उत्तम और उदात्त बन सकता है, हमारी कार्यकुशलता, क्रियाशीलता, रचनात्मकता बहुत-कुछ बढ़ सकती है। यह लेखक लगभग साठ वर्षों से इस विषय में प्रयोग करता रहा है और बहुत-कुछ लाभ भी उठाया है। विश्व-साहित्य में इसकी चर्चा होती रही है, अतः यह कोई अनूठा सुझाव नही है। आद्य काल में सपनों को भगवान् या पूर्वजों का संदेश, या किसी दुष्ट आत्मा की चुनौती माना जाता था। **अथर्ववेद** ने सपनों को समझने के दो मानक बताए . स्वप्न देखनेवाले की शारीरिक स्थिति, और सपने देखने का समय, रात्रि का प्रहर। **चरक** ने चार प्रकार के स्वप्न बताए—एक वे जो जाग्रतावस्था की घटनाओं से प्रेरित होते हैं, दूसरे वे जो मानसिक संवेदनाओं से प्रभावित होते हैं, तीसरे केवल काल्पनिक, चौथे किसी अलौकिक शक्ति से संदेश के रूप में। **माण्डूक्योपनिषद्** ने स्वप्न को जीवात्मा के सूक्ष्म रूप का, अन्तःप्रज्ञः का, तेज बताया है—**अन्तःप्रज्ञः प्रविविक्तभुक् तैजसः**। हमें इसी पर विशेष ध्यान देना है, पर अन्य दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों के मतमतान्तर की जानकारी प्राप्त कर लेना और भी श्रेयस्कर रहेगा।

आस्ट्रेलिया के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **सिग्मण्ड फ्रायड** (1856-1939) का बृहद् ग्रंथ 'सपनों की व्याख्या' (इन्टर्प्रेटेशन ऑव ड्रीम्स) 1899-1900 में प्रकाशित हुआ। वह इस पुस्तक को अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति मानते थे, पर यह बिल्कुल लोकप्रिय न हो सकी और प्रकाशन के अगले छह वर्षो में केवल 351 प्रतियाँ बिकीं। उन्होंने सपनों की व्याख्या मुख्यतः यौन सम्बंधों पर आधारित की है—सभ्य समाज में रहते हुए हम अपनी कामवासनाओं को खुली छूट दे नही सकते, अतः उनको दबाना पड़ता है और अधिकांश सपनों में वे उत्तेजनाएँ उभर आती हैं, और वे शिष्टता के कारण प्रतीक रूप में प्रकट होती हैं। इस तरह **फ्रायड** ने सपने के प्रतीकों का एक विशाल संसार खडा कर दिया। जनता तो

क्या, उनके दो परमप्रिय शिष्यों—युंग और एडलर—ने उनके जीवनकाल में ही इस मत को नकार दिया। एडलर ने किसी-किसी में अपनी हीन भावना से ऊपर उठने को प्रधानता दी और युंग ने सपनों में मानव की सदा आगे बढ़ने की ललक तथा बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी व्यवहार का समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न माना। पश्चिम के अधिकांश मनोवैज्ञानिक जिन्होंने सपनों को समझने का प्रयत्न किया है, वे सब मनोरोग-उपचारक थे। उनका व्यापक दृष्टिकोण यह है कि जाग्रत अवस्था में विभिन्न कारणों से मानव के मन में गाँठें पड़ जाती हैं और वह सपनों द्वारा उनका समाधान खोजने की कोशिश करता है। इस प्रस्तावना से वे आगे बढ़े ही नहीं, अन्तःप्रज्ञः द्वारा आत्मा तक पहुँचना बहुत दूर की बात है।

वर्तमान काल में, सार्वभौमिक एवं उदारीकरण के युग में, सपनों द्वारा भी प्रशासनिक क्षमता बढ़ाने, सामूहिक उत्पादकता तथा गुणवत्ता में चार चाँद लगाने तथा अधिक लाभ कमाने का प्रयास किया जा रहा है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के प्रयोग चल रहे हैं। इसी उद्देश्य से सपनों का अध्ययन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था भी है। उसका नाम है 'इन्टरनेशनल एसोसियेशन फॉर द स्टडी ऑव ड्रीम्स' और उसके संस्थापक अध्यक्ष हैं **गेल डेलाने**। इन्होंने सपनों को समझने और उनसे जाग्रत जीवन में लाभ उठाने के लिए बारह-सूत्री प्रश्नावली तैयार की है। इनका सारा ब्योरा उनकी पुस्तक **'लिविंग योर ड्रीम्स'** में दिया गया है। ऐसे धन-सर्वस्व वातावरण में कुछ विद्वान् इस विषय पर गहन शोध कर रहे हैं कि प्रबंधकों एवं कार्यकर्ताओं की कार्यकुशलता सपनों की सहायता से किस प्रकार उच्चतम बनाई जाए।

जब आप सोने जाएँ तो अपने पास टेपरिकॉर्डर या काग़ज़-क़लम रखकर सोएँ। लेटने पर दिन-भर की सारी घटनाओं का पुनः अवलोकन करें। क्या समस्याएँ आई उन पर विशेष ध्यान दें और उनके समाधान के विषय में विचार करते सो जाएँ। प्रातः आँख खुलते ही सबसे पहले जो आपने स्वप्न देखा उसको लिपिबद्ध करना शुरू कर दें। जितना याद आ जाए उतना लिख लें। आरम्भ में कुछ कठिनाई होगी, धीरे-धीरे सरल होता जाएगा। प्रत्येक सपने की तिथि नोट कर लें, तदुपरान्त उनका विश्लेषण करें। आप पाएँगे कि आपके सपनों की एक रूपरेखा है, एक दिशा है। कुछ सपने बार-बार आते हैं, कुछ कभी-कभी। कुछ नितान्त निरर्थक होते हैं, अन्य से कोई अर्थ निकाला जा सकता है। उनकी व्याख्या आप स्वयं नहीं कर सकेंगे और कम से कम एक मास के सपनों की प्रतिलिपि लेकर किसी विशेषज्ञ की राय लेनी पड़ेगी, तभी उनसे जाग्रतावस्था में आप कुछ लाभ उठा सकेंगे।

सपनों द्वारा कुछ समस्याएँ अवश्य हल हो सकती हैं, इसके कई कारण हैं। सपने में आपको शरीर का बंधन नहीं रहता। सारा मन का खेल है और आपका मन और शरीर कहीं भी जा सकते हैं, यद्यपि आपका उन पर कोई ऐसा नियंत्रण नहीं होता कि वे नहीं जाएँ। दूसरे, स्वप्न में आप सभ्य समाज के शिष्टाचार से भी मुक्त हैं। जो आप जाग्रत अवस्था में नहीं कर सकते थे और मन मसोसकर रह गए थे, वह सपने में कर गुज़रने की पूरी छूट है जिससे आपकी कुछ गाँठें खुल सकती हैं। तीसरे, जागते हुए आपका सम्पर्क केवल चेतन मन तक ही सीमित था, सोते समय आप अर्ध-चेतन एवं अचेतन मन में भी झाँक सकते हैं, उनकी असीम प्रज्ञा आपके साथ है और उसकी सहायता से कुछ न कुछ समस्याओं के समाधान में अवश्य सहायता मिल सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जाग्रत अवस्था के कितने ही बन्धनों से मुक्त होकर, हमारे विचार से, स्वप्नावस्था में जीव की क्षमताएँ और भी उद्दीप्त हो जाती हैं। हम सपनों के कुछ उदाहरण देकर इसका स्पष्टीकरण कर सकते थे, पर यहाँ हमारा लक्ष्य स्वप्नो की व्याख्या करना तो है नहीं, इस अवस्था की सहायता से गुणवत्ता बढ़ाना भी नही है; जीवात्मा को समझने का प्रयत्न करना है।

एक बार विदेह राजा जनक ने **ऋषि याज्ञवल्क्य** से पूछा कि ''मानव किसके प्रकाश में उठता-बैठता और चलता-फिरता है और उसका तत्त्व क्या है?'' ऋषि ने उत्तर दिया—''राजन्! वह सूर्य के प्रकाश में सारे कर्म करता है।'' ''और जब सूर्य अस्त हो जाता है तब किसके प्रकाश में कर्म करता है।'' ऋषिवर ने उत्तर दिया—''चंद्रमा के प्रकाश में।'' ''जब चन्द्रमा नहीं होता, अमावस्या होती है तब वह कैसे काम करता है?'' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया। ''तब अग्नि के प्रकाश में कार्यरत रहता है।'' राजा ने पूछा—''जब सूर्य-चन्द्र दोनो न हों और अग्नि भी शांत हो, तब वह कैसे काम करता है?'' ऋषि ने उत्तर दिया—''वह वाणी के सहारे काम करता है, ध्वनि की सहायता से वह इधर-उधर आता-जाता है और सारे काम चलाता है।'' ''और जब ध्वनि भी न हो तब मानव किसके प्रकाश में, किसकी देख-रेख में काम करता है।'' ऋषि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''हे राजन्, तब मानव अपनी आत्मा के प्रकाश में काम करता है, वह ज्योतिर्मयी आत्मा जो सदा उसके हृदय-कमल में विराजमान रहती है और ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और अन्तःकरण-चतुष्टय से घिरी रहती है, उनके आवरण से ढकी रहती है, बुद्धि-विवेक से अभिन्न होकर वह भले-बुरे की पहचान करती प्रतीत होती है और कर्मफल के आधार पर जीव के विभिन्न जन्मों में विचरती रहती है। इस संसार मे जागते हुए या सोते हुए वह दैदीप्यमान आत्मा सदा एक-सी रहती है और वही

मानव का तथ्य है, सार है। सोते समय, सपनों के रूप में इन्द्रिय-जन्य जगत से ऊपर उठ वह अपने सूक्ष्म रूप में प्रस्फुटित होती है और उसका अन्धकारमय आवरण हट जाता है, वह तैजस रूप धारण कर लेती है।" ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा की गई आत्मा की व्याख्या, **माण्डूक्योपनिषद्** के इस मंत्र के विवेचन से बिल्कुल मिलती-जुलती है। उपनिषद् का तुरीय अवस्था का मन्त्र है .

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ 6॥

कुछ विद्वानों का कहना है कि सपनों का संसार, जाग्रत अवस्था की घटनाओं द्वारा घटित होता है, उनकी छाप है। यदि उसको प्रतीक रूप में देखें तो भी कितने ही सपनों का इस जीवन की किसी भी घटना से कोई सम्बंध दिखाई नही देता, हो सकता है उनमें पिछले जन्म के कर्मो का कोई हाथ हो क्योंकि स्वप्न में तो जीव की पकड़ बहुत गहरी हो जाती है और वह जाग्रत अवस्था के बहुत-से बंधनों से मुक्त होकर विचरता है।

एक बात और, यदि स्वप्नावस्था जाग्रतावस्था का परिणाम है तो यह भी हो सकता है कि हमारी जाग्रत अवस्था किसी अन्य अवस्था की संवेदनाओं का परिणाम हो। जैसे जागने पर हमको स्वप्न मिथ्या लगते हैं, उसी तरह जाग्रत अवस्था से 'जागने' पर हमको यह अवस्था मायाजाल जान पड़े। यदि स्वप्नावस्था किसी 'कारण' का कार्य है तो जाग्रत अवस्था भी किसी अन्य कारण का कार्य हो सकती है। हम जाग्रत और स्वप्न, इन दो अवस्थाओं की ही आपस में तुलना क्यों करते हैं ? जाग्रत अवस्था की सार्थकता की किसी अन्य ऊँची अवस्था से भी तो तुलना कर सकते हैं। पर हम ऐसी तुलना कर नही सकते, क्योंकि इस समय हमे उस अवस्था का आभास नहीं है। जैसे सोते समय सपने प्रतीत होते हैं, और जाग्रत अवस्था में इन्द्रियजन्य जगत, उसी तरह जब हम जाग्रत अवस्था की 'नींद' से ईश्वर-जगत में जागेंगे तब हमें जाग्रत-जगत के सत्यासत्य का ज्ञान होगा। जैसे हम सपने से जागकर कुछ खोते नहीं, उसी तरह हम इस गहरे 'सपने' से जागकर कुछ खोएँगे नहीं, और भी श्रेष्ठ मानव बन जाएँगे, जैसे साधारण नरेन स्वामी विवेकानन्द बनकर सारे विश्व पर छा गए। यह मंत्र हमें इस तथ्य को समझने की ओर संकेत करता है।

5. गहरी नींद का आनन्द

जब हम बहुत गहरी नींद में होते हैं, वह स्थिति सुषुप्ति कहलाती है। इसे जीवात्मा तथा ब्रह्म का तीसरा पाद कहा जाता है। ऐसी नींद में हम कोई स्वप्न नहीं देखते; हमें किसी भोग की, कामना की इच्छा भी नहीं होती। मन में कोई वृत्ति ही नही उठती, वह अपने-आप में सिमट जाता है। जीवात्मा और शरीर का सम्बंध होते हुए भी जैसे टूट-सा जाता है और वह अपनी शक्ति बाहर बखेरने के बजाय अपने अन्दर खींच लेती है, अपनी समस्त शक्तियो को एकीभूत कर लेती है, अपने-आपमें समेटकर घनीभूत हो जाती है और 'प्रज्ञानघन' कहलाती है। सुषुप्ति में, जाग्रत अवस्था की स्थूल रूप में और स्वप्नावस्था में सूक्ष्मरूप से विद्यमान हमारी दस ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण की इन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—सारे उन्नीस 'मुख' तथा विराट जगत के सातों अंग सब लोप हो जाते हैं। अर्थात् जीवात्मा तो ज्ञान की घनावस्था में पहुँच जाती है और शरीर प्राज्ञ—प्र+अज्ञ—अर्थात् अत्यन्त अज्ञान की अवस्था में आ जाता है। जब समस्त इन्द्रियाँ कोई भोग नहीं भोगतीं, मन भी मौन हो जाता है, इन्द्रियाँ और मन संसार के विषयों की ओर नहीं भागते, तब हम एक अद्भुत, अनिर्वचनीय, नैसर्गिक आनन्द अनुभव करते हैं, और प्रातः उठकर हम कहते हैं कि रात बड़ी गहरी नींद आई, कोई सपना भी नहीं देखा, बहुत आनन्द आया। हम अत्यंत हल्का-फुल्का अनुभव करते हैं। इस आनन्द की तुलना हम केवल समाधिस्थ अवस्था से ही कर सकते हैं, अन्तर इतना है कि सुषुप्ति की स्थिति अज्ञान की रहती है और समाधि में प्रज्ञा जाग्रत रहती है। यह **माण्डूक्योपनिषद्** के पाँचवें मन्त्र का सारांश है। पूरा मंत्र इस प्रकार है—

> **यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।**
> **सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः**
> **प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ 5 ॥**

सुषुप्ति अवस्था में आपको इतना आनन्द कहाँ से मिलता है ? क्या इन्द्रियों के स्थूल अथवा सूक्ष्म भोग से, या ब्रह्माण्ड के सप्तांग विराट रूप से ? क्योंकि सुषुप्ति में तो 'एकोनविंशतिमुख' तथा 'सप्ताग' दोनों ही नहीं होते, विलीन हो जाते हैं। ऐसा लगता है जब धन, वैभव, ऐश्वर्य, प्रशासनिक अथवा राजनैतिक सत्ता कुछ भी नहीं होता तब आनन्द उदय होता है इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति

से कुछ सुख तो अवश्य मिलता है। धन द्वारा जो सुविधाएँ प्राप्त की जा सकती हैं वे भी हमें सुख देती हैं; और अधिकार का, सत्ता का अपना ही एक नशा है—यह भी नकारा नहीं जा सकता। पर ये सारे सुख क्षणिक हैं, अस्थायी हैं, आते हैं और चले जाते हैं, टिकाऊ नहीं हैं, फिर भी हम उनकी खोज मे निकल पड़ते हैं। कितने ही ऐसे सुखों में दुःख का बीज छुपा रहता है। इस तरह सुख-दुःख के बीच झूलते हुए जीवन समाप्त हो जाता है। यही संसार है।

प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में आप कुछ नही चाहते, कुछ नहीं माँगते, किसी से नहीं मिलते, कैसी भी सत्ता का भोग नहीं करते, और असीम आनन्द में डूबे रहते हैं। शायद तब आप अपने सच्चे स्वरूप में होते हैं, और वह रूप है अकेलापन, वृत्तिविहीन, शात, मौन, आनन्दमय। तो क्या मंत्र हमको अकर्मण्य रहने का संदेश देता है? नहीं। **गीता** ने इसकी बार-बार व्याख्या की है—आप कर्तव्य-कर्म करें, अवश्य करें, किये बिना रह नहीं सकते, पर समभाव से—**समत्वं योग उच्यते**। इस मंत्र में तो केवल जीवात्मा का निरूपण किया गया है। जाग्रत अवस्था में बैठी हुई जीवात्मा के भोग-साधन **एकोनविंशतिमुखः** और सप्तांग थे, स्वप्नस्थान में भी जीवात्मा इन्हीं मुखो और अंगों से संस्कारों के सूक्ष्म रूप में भोग करता है, पर सुषुप्ति-स्थान में आकर उसके संस्कार भी शांत हो जाते हैं और भोग का साधन अपनी चेतना-मात्र रह जाती है, अतः जीवात्मा को **चेतोमुखः**—अर्थात् चेतना ही जिसके भोग का साधन है, और कोई अंग नहीं—ऐसा कहा गया है। इस अवस्था में जीवात्मा न तो बहिर्मुखी होती है न अन्तर्मुखी, न 'वैश्वानर' होती है, न तैजस; वह प्रज्ञः होती है, विशेष रूप से ज्ञानवाली, ज्ञानरूप, चेतनारूप होती है। यह रची हुई सृष्टि जीवात्मा का जाग्रत स्थान है सृष्टि-रचना का सम्पूर्ण आयोजन उसका स्वप्नस्थान है, और जब ब्रह्म सृष्टि से अपनी रचनारूप शक्ति को खींच लेता है तब वह प्रलयावस्था उसका सुषुप्ति स्थान है। स्थूल सृष्टि, सूक्ष्म सृष्टि और प्रलय, ये तीनों प्रकृति की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाएँ हैं। जो इन तीनों अवस्थाओं को जानता है और उन तीनों में से गुजरता है, वह ब्रह्मरूपी जीवात्मा है। आपकी पहचान, आपकी स्थिति, इन तीनों में से एक भी नहीं है। आप प्रत्येक के देखनेवाले हैं, द्रष्टा हैं। जैसे आपको जागने पर सपने में खोने-पाने का कोई मलाल नहीं होता, उसी तरह जाग्रतावस्था में कुछ भी खोने-पाने में तटस्थ रहने में ही आनन्द है। जिस तरह जाग्रत जगत की बहुत-कुछ घटनाओं की छाया आपको सपनों में दिखाई देती है, उसी तरह हो सकता है ईश्वरीय लीला की छाप आपको जाग्रतावस्था में दिखाई दे रही हो और यह बस उसका ही प्रतिबिम्ब हो, माया हो, वास्तविकता न हो, सत्य न हो; और

जब इस निद्रा से जागें तब आपका सारा सांसारिक प्रपंच प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज और तम—का तमाशा समझ मे आ जाए।

उपनिषद् का कहना है कि ये तीनो अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—एक ओंकार में समाहित हैं। ओंकार के तीन अक्षर—'अ', 'उ' और 'म्'—में 'अ' जाग्रत अवस्था का प्रतीक है, 'उ' अथवा 'उकार'-मात्रा का ध्यान, स्वप्नस्थान के जीवात्मा तथा ब्रह्म का ध्यान है, और 'म्' अथवा 'मकार'-मात्रा जीवात्मा तथा ब्रह्म के सुषुप्तिस्थान की प्रतिनिधि है। अतः जीव और ईश्वर भिन्न नहीं हैं, एक-दूसरे में गुँथे हुए हैं, अन्तर्व्याप्त हैं। इस तरह यह उपनिषद् जीव को, जगत को असत्य नहीं मानता, दोनों का समन्वय करता है। जो हम जानते हैं, जिस जाग्रत अवस्था से हम चिर-परिचित हैं, उससे आरंभ कर, हमारी उँगली पकड़, हमको सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म अवस्थाओं का परिचय कराता है और कभी भी केवल जीव को लेकर नहीं, सप्तांग—ब्रह्माण्ड के विराट रूप को भी बराबर साथ रखता है और सदैव जीव को एक व्यापक, अन्तरिक्षीय परिप्रेक्ष्य में देखने की ओर संकेत देता है। यह जानकारी, यह ज्ञान, किसी सम्प्रदाय-विशेष की धरोहर नहीं है, समूची मानव-जाति की सम्पत्ति है और जो भी जितना चाहे इसका लाभ उठाकर अपने को निहाल कर सकता है।

यह तो रही **माण्डूक्योपनिषद्** को मानसिक स्तर पर समझने की बात, बुद्धिविलास की बात। हमारे कितने ही पाठक इस उपनिषद् से पहले ही परिचित होंगे। हो सकता है उन्हे यहाँ दिए गए विवेचन से किंचित् लाभ पहुँचा हो। जिन्हे पहले जानकारी नहीं थी और अब हो गई—यह और भी अच्छी बात है। पर जब तक इस जानकारी को जीवन में नहीं उतारा जाएगा, जीया नहीं जाएगा, तब तक कोई विशेष लाभ होनेवाला नहीं है। किसी करोड़पति को खाँसी थी। उसने सर्वोत्तम डॉक्टर से निदान करा औषध मँगवा ली और उस औषध को सजी हुई मेज़ पर रखकर उसको धूप दिखाई, दीप जलाया, माल्यारोपण किया, बहुत महान् डॉक्टर की बड़ी मूल्यवान् औषध जो थी। कितने ही दिन बीत गए, खाँसी में कोई लाभ नहीं हुआ। अरे भाई, जब तक उस औषध का सेवन नहीं करोगे, अपने गले नहीं उतारोगे, तब तक लाभ कैसे होगा? ऐसे ही आप भारत के महान् उपनिषदो को बड़ी सुन्दर अलमारी में सजाकर रख लें, यदा-कदा उन्हें पढ़ लें, समझ भी लें, पर यदि गले से न उतारें, पचाएँ नहीं, आत्मसात् न करें, तो सत्य के दर्शन कैसे हो सकते हैं?

आपको एक युक्ति बताते हैं। यह मानकर चलिए कि यह सारा संसार एक रंगमंच है और हम सब अभिनेता जो अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पंक्तियाँ

बोलते हैं, जैसा निर्देशक आदेश देता है वैसा, उसके द्वारा निर्दिष्ट भाव-भंगिमाओ के अनुसार अभिनय करते हैं, और अपनी भूमिका भली-भाँति निभाकर जब वह 'कट' कहता है तो बत्तियाँ बुझा दी जाती हैं, कैमरा बन्द कर दिया जाता है और हम अपने मुखौटे हटाकर अपने सच्चे स्वरूप में आ जाते हैं, या फिर दूसरी भूमिका की तैयारी में लग जाते हैं। अभिनय तभी सफल माना जाता है जब हम अपने पात्र से तद्रूप हो जाएँ। फिर भी हमको निरन्तर यह चेतना तो रहती है कि 'नाटक' नाटक है और 'हम' हम हैं। तीनों अवस्थाएँ आपकी हैं पर आप तीनो के द्रष्टा हैं।

एक दूसरी युक्ति है, इसका भी परीक्षण करें। जैसे आप दूसरों को देखते है वैसे ही अपने-आपको भी देखिए। आपकी आँख देख रही है, आप नहीं देख रहे; आपके कान सुन रहे हैं, आप नहीं सुन रहे इत्यादि। इस अभ्यास द्वारा यह भावना दृढ़ होती जाएगी कि आप शरीर नहीं हैं, शरीर देखनेवाली अलग एक सत्ता है। इसी तरह मन को देखिए—वाह रे मन, तू कैसा चंचल है! टिड्डे की तरह फुदककर कभी यहाँ बैठता है कभी वहाँ। एक बार मन को मन से अलग होकर तो निहारिए, आपको उसकी क्रीड़ा में, उछल-कूद में बड़ा रस आने लगेगा। "मेरी बुद्धि, प्रत्येक समस्या की, घटना की, अच्छाई-बुराई का किस प्रकार निरीक्षण कर रही है, मैं तो तटस्थ भाव से इसके कार्यकलाप को देख रहा हूँ। मैं न तो शरीर हूँ, न मन, बुद्धि, चित्त या अहंकार। मैं तो इन सबका स्वामी हूँ, इनके खेल का साक्षी हूँ।" इसी तरह मैं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनो अवस्थाओं से भिन्न हूँ, अलग हूँ, इनका साक्षी हूँ। मैं उन्नीस 'मुख' और 'सात अंग' वाली स्थूल रूप में जाग्रतावस्था, सूक्ष्म रूप में स्वप्नावस्था, और जब सब-कुछ विलीन हो जाता है—केवल आनन्द ही आनन्द रहता है, वह सुषुप्ति अवस्था—तीनों को जाननेवाला सत्य हूँ, ब्रह्म हूँ।

अभ्यास करके देखें, बड़ा लाभ होगा। सत्य की खोज में कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा।

1. हरमे-दिल में मकीं था मुझे मालूम न था

पिछले लेखों के पढ़ने से आपको यह अनुमान लग गया होगा कि परमानन्द की प्राप्ति के लिए आपको शरीर और मन की दुनिया से ऊपर उठ, आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर चलना होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि आपको इन्द्रिय-जनित जगत को छोड़ वन-पर्वतों में एकान्तवास करना नितान्त आवश्यक है। जब आप छाया को छोड, मूल को पकड़ते है तो छाया भी रहती है, लोप नही हो जाती। इतना अवश्य है कि आप मूल को मान, छाया को केवल छाया जान लेते है, मूल नहीं। विडम्बना यह है कि हम प्रतिबिम्ब को वास्तविकता मान बैठे हें और यूनानी युवक नारसिसेस की नाईं, छाया के मोह मे फॅसकर रह गए है, सच्चाई की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। आप चाहें तो इसी ससार मे रहें पर अपने को स्वयं से अलग होकर देखने की आदत डालें। कभी-कभी अपनी सत्ता में स्थित रहने का ध्यान करें और धीरे-धीरे इस ध्यान की अवधि को बढ़ाएँ। यह मात्र दृष्टि-भेद की बात है, देखने की दिशा को बदलना है। आरम्भ में कठिनाई होगी, क्योंकि वर्षो से, जन्म-जन्मान्तर से, झूठ को सच, छाया को वास्तविकता मानने की आदत जो पड़ी हुई है। पहला पग उठाना दुष्कर लगेगा, दूसरा उससे कम; दृढ़ संकल्प से काम लेंगे और एक बार चल पडे तो बढ़ते ही जाएँगे। इसका एक कारण यह भी है कि इसका फल आपको पग-पग पर दिखाई देने लगेगा और एक बार चस्का लग गया तो आप लौटना पसन्द ही नहीं करेंगे। जैसे-जैसे इस ध्यान में आगे बढ़ेंगे, मल-विक्षेप-आवरण, काम-क्रोध-लोभ आदि विकार पीछे छूटते जाएँगे; और फिर उपनिषद् जैसे ग्रंथ जो हैं आपकी सहायता के लिए। किसी न किसी उपनिषद् का प्रतिदिन स्वाध्याय कीजिए। उनमे तो आत्मज्ञान की विशद चर्चा है।

जाग्रत, स्वप्न और सुपुप्त अवस्थाओं की बात चल रही थी और यह बताया गया कि कोई एक ऐसी सत्ता है जो तीनों अवस्थाओ में समान रूप से विद्यमान

रहती है। ऐसा लगता है कि इन अवस्थाओं के विश्लेषण में, इनको भलीभाँति समझ लेने में कही न कहीं आत्मज्ञान की कुंजी छुपी हुई है। कई उपनिषद् बार-बार, तरह-तरह से, इनकी चर्चा करते हैं। **छान्दोग्य-उपनिषद्** भी इनकी बात करता है। एक स्थान पर (VI-8-1) वह 'स्वप्नान्तम्'—स्वप्न के अन्त—अथवा सुषुप्ति जिसे वह 'स्वपिति' कहता है—ऐसी अवस्था जिसमें जीवात्मा अपने वास्तविक 'स्व'-रूप को पहुँचा होता है, अपनेपन में गया होता है। अभिप्राय यह है कि जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में जीव अपने-आप में लीन नहीं होता। जाग्रतावस्था में बहिर्मुखी, स्वप्न में अन्तर्मुखी, और दोनो अवस्थाओं में उन्नीस 'मुख' तथा सात 'अंगो' की सहायता से जीव कार्यरत रहता है। उसको अपने वास्तविक रूप को देखने का समय ही कहाँ रहता है! एक उदाहरण से समझें। मान लीजिए एक पक्षी के पैर में लम्बी डोरी बाँध दी गई। पक्षी इधर-उधर उड़ता रहता है, पर उतनी ही दूरी तक जितनी लम्बी उसकी डोर है। हारा-थका फिर अपने स्थान पर लौट आता है। उसी तरह जीवात्मा जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओ में इधर-उधर विषयो की ओर घूमती रहती है, भटकती रहती है; कभी इसकी कामना करती है, कभी उसकी। सुषुप्त अवस्था में ही वह अपने वास्तविक 'स्व'-रूप में लौटकर विश्राम अनुभव करती है।

आठवें और अन्तिम प्रपाठक में **छान्दोग्य-उपनिषद्** 7 से लेकर 15 खण्डों में पुनः तीनों अवस्थाओं का विशद विवेचन करता है। आप जानते हैं भारत के ऋषि-मुनियों का अत्यन्त गहन-गंभीर विषयों को बड़े रुचिकर ढंग से कथाओं द्वारा समझाने का अन्दाज था। कहानी की शैली में कहा गया है कि ब्रह्मा जी घोषणा करते हैं : "आत्मा अमर है। जो उस 'आत्मा' को ढूँढकर जान लेता है, उसका सब लोकों पर आधिपत्य हो जाता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, वह परमानन्द को प्राप्त होता है। उस आत्मा को जानो।" सुर-असुर सबने यह आकाशवाणी सुनी और सबको उस आत्मा को जानने की तीव्र इच्छा हुई जिसको जाननेवाला सब लोकों का स्वामी बन सकता है, सब इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है, परमानन्द प्राप्त कर सकता है। कहानी बताती है कि देवताओ ने सभा की और इन्द्र को चुना कि वह प्रजापति से आत्मा को जानने का रहस्य प्राप्त करें। असुरों ने अपने राजा विरोचन को इसी उद्देश्य से ब्रह्मा जी के पास भेजा।

दोनों प्रजापति के पास पहुँचे, पर उनसे साक्षात्कार प्राप्त करने के पूर्व उनको 32 वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी। उसके बाद ब्रह्मा जी ने उनसे आने का कारण पूछा। उनकी जिज्ञासा जानने के बाद उन्होंने दोनों से कहा : "यह जो

आँख मे पुरुष दीखता है, यह आत्मा है''—**एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा**। इन्द्र और विरोचन दोनों ने जल मे अपना प्रतिबिम्ब देखा और यह समझ लिया कि यह शरीर ही आत्मा है। प्रजापति ने देखा कि दोनों ने ही उनके कथन के मर्म को नही समझा। विरोचन लौट गया और असुर अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट तथा सुन्दर बनाने में लग गए, और कभी भी 'शरीर' से ऊपर नहीं उठ सके। मार्ग मे इन्द्र ने सोचा—शरीर रोगग्रस्त हो सकता है, अंगों को क्षति पहुँच सकती है तो क्या 'आत्मा' रोगी हो जाती है? अतः वह लौटकर फिर प्रजापति के पास गए। 32 वर्ष तक पुनः तपस्या की और उनसे शंका-निवारण की प्रार्थना की। प्रजापति ने कहा : ''तूने ठीक समझा। जो यह 'स्वप्नावस्था' में महिमाशाली होकर विचरता है, यही आत्मा है।'' पर इन्द्र को फिर शंका हुई : ''स्वप्न मे आघात पहुँचने पर शरीर को कोई चोट नहीं पहुँचती, पर सपने के शरीर को तो अप्रिय अनुभव होते ही हैं, चोट भी लगती है, पीड़ा भी होती है, अतः स्वप्न की द्रष्टा आत्मा नहीं हो सकती।''

तीसरी बार फिर इन्द्र ब्रह्मा जी की सेवा में पहुँचे। उनको पुनः 32 वर्ष तप करने का आदेश हुआ। उसके बाद प्रजापति ने कहा : ''जहाँ सोया हुआ समाहित हो जाता है, अन्तःकरण की वृत्तियों से अलिप्त हो जाता है, राग-द्वेषादि विकारों से मुक्त होकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है, उस सुषुप्त अवस्था को जाननेवाला ही आत्मा है। 'मैं ऐसा हूँ' उसको यह भी भान नहीं होता, मानो उस अवस्था में वह नाश में ही लीन हो जाता है, वह आत्मा है।'' यह व्याख्या भी इन्द्र को बहुत ठीक नहीं लगी—जब आत्मा को यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ', तब तो यह अत्यन्त अज्ञान की अवस्था हुई। यह सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, परम आनन्दमयी आत्मा कैसे हो सकती है? जब वह फिर ब्रह्मा के पास हाथ में समिधा लेकर लौटे तो उनको 5 वर्ष तक फिर तपस्या करने को कहा गया। इस तरह जब इन्द्र ने 101 वर्ष तक घोर तपस्या की, तब प्रजापति ने उनको आत्मा के सत्य स्वरूप की शिक्षा दी : ''यह शरीर, हे इन्द्र, मरण-धर्मा है, मृत्यु से ग्रसा हुआ है। आत्मा स्वभाव से अशरीर है, पर जब वह अपने-आपको शरीर से जुड़ा हुआ समझती है तब तक उसे भी सुख-दुःख लगा रहता है। पर जब उसका परम-ज्योति के साथ सम्पर्क हो जाता है तब वह अपने असली रूप को धारण कर लेता है—**शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते** (VIII-12-3)।'' प्रजापति ने कई उदाहरण देकर आत्मा का स्वरूप बताते हुए समझाया कि मन आत्मा का दैव-चक्षु है, दिव्य नेत्र है, इससे आगे-पीछे भूत-भविष्य सब देखता है, इसी दिव्य-चक्षु द्वारा मन में ही- कल्पना में ही मनुष्य रमण करता है—**सवा एष एतेन**

दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते (VII –12–5)।" कथा बताती है कि ब्रह्मा ने इन्द्र को समझाया कि सुषुप्तावस्था में आत्मा जड़ हो जाती लगती है, पर उसका वास्तविक स्वरूप चैतन्य है, आनन्द है।

आत्मा का निरूपण और भी किया गया है। **गीता के दूसरे** अध्याय में तो उसकी विशद व्याख्या की गई है और उसको **नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः** (II–24) अर्थात् उसे नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन कहा गया है। ऐसे आत्मविवेचन आप और हम बार–बार पढ़ चुके है, बुद्धि–स्तर पर उसका अर्थ भी जानते हैं। सुनते रहते हैं कि केवल ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या, फिर भी इसकी अनुभूति से अनभिज्ञ हैं। हमारी इन्द्रियजन्य क्षणिक सुखो के पीछे दौड़ने की ललक में विशेष परिवर्तन नहीं आया है और हम आत्म–साक्षात्कार से उतने ही दूर हैं जितना पहले थे। उसका एक मुख्य कारण यह है कि आत्मा अशरीर है और हमारा मन जब भी कुछ विचार करता है, कल्पना करता है, वह सदा देश–काल मे स्थित किसी न किसी भौतिक नाम–रूपात्मक वस्तु, व्यक्ति अथवा विषय का ध्यान करता है, कर सकता है।

इस कठिनता का समाधान करने के लिए ही हिंदू धर्म में सगुण ब्रह्म के ध्यान की व्यवस्था की गई है। हर व्यक्ति एकदम, तुरन्त, निर्गुण ब्रह्म का ध्यान कर नहीं सकता इसलिए ऐसे मुमुक्षुओं को कुछ विद्वान् पहले किसी इष्ट देवता—नामरूपात्मक विभिन्न कलाओं से युक्त—का ध्यान करने का परामर्श देते हैं। इन्हीं कारणों से हिंदू धर्म में कई 'वाद' बन गए हैं—एकेश्वरवाद (जो केवल एक ईश्वर को मानते हैं), बहुदेववाद (जो अनेक देवी–देवताओं को मानते हैं) इत्यादि। यहाँ एक बात स्पष्ट कर दें : जो शिव, राम, कृष्ण आदि को अपना इष्ट मानता है, वह उसकी सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ ब्रह्म के ही रूप मे उपासना–आराधना करता है, सीमित रूप में नहीं। **स्वामी रामकृष्ण परमहंस** की 'माँ' सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमती थीं। इसके लिए **मैक्समूलर** महाशय ने 'हैनोथीज़्म' शब्द गढ़ा है जिसको हम 'एकैकाधिदेववाद' कह सकते हैं।

एक साधन यह भी हो सकता है कि आप प्राण को, आत्मा को बैल माने और शरीर को गाड़ी। बैलरूपी आत्मा, शरीररूपी गाड़ी में जुती है; दोनों अलग–अलग हैं—एक चैतन्य, दूसरा जड़। अब गाड़ी बैल तो नहीं हो जाती। या यों समझें कि आप गाड़ी में, ट्रेन में बैठे जा रहे हैं, यात्री आते हैं, आपके पास बैठते हैं, बातचीत करते है, चले जाते हैं, क्या आपको कुछ होता है ? रेलगाड़ी पटरी पलटती है, नए–नए स्टेशन आते हैं, निकल जाते हैं, कोलाहल होता है, फिर सब शान्त हो जाता है. क्या आप विचलित होते हैं ? गाडी हिलती है डुलती है. धक्का

लगता है, आपका शरीर भी हिलता-डुलता है, पर आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, आप अपने-आप में स्थित, अपने स्टेशन की, अपनी मंजिल की प्रतीक्षा में शान्त बैठे रहते हैं। ऐसे ही आपके शरीर में आपकी आत्मा है, बाहर कुछ भी कोलाहल होता रहे, कुछ भी दौड़-धूप चलती रहे, वह निःस्पृह रहती है पर सदा आपके साथ है, आपकी अभिन्न सत्ता है। फिर भी आप शरीर पर दृष्टि जमाए रहते हैं। उसमें रहनेवाले की ओर ध्यान दीजिए :

हरमे-दिल में मकीं था, मुझे मालूम न था।
रगे-जाँ से भी क़रीं था, मुझे मालूम न था।।
वह कहीं मैं कहीं हूँ ऐसा गुमाँ था मुझको।
मैं जहाँ था वह वहीं था मुझे मालूम न था।
दिल से परदा जो उठा, हो गईं रोशन आँखें।
इस दिल में ही परदानशीं था, मुझे मालूम न था।।

2. हम घर का मार्ग भूल गए हैं

जब आप किसी वायुयान या ट्रेन में यात्रा कर रहे हों, या बस अथवा कार मे आ-जा रहे हों, तो आपको यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि केवल वाहन चल रहा है, आप नहीं चल रहे। उसी तरह जब आप उठ-बैठ रहे हों, या चल-फिर रहे हों तो आपको यह ध्यान दृढ़ करना उचित होगा कि ये क्रियाएँ आपका शरीर कर रहा है, स्वयं आप नहीं; अथवा आपका मन कल्पित क़िले बना-बिगाड़ रहा है, आपकी बुद्धि तर्क-वितर्क कर रही है, आपके कान सुन रहे हैं, आपकी आँखें देख रही हैं, आप नहीं; आप तो कूटस्थ हैं और रहेंगे। वास्तविकता तो यह है कि आँख भी नहीं देखती, कोई और ही सत्ता सब-कुछ करती है; और जब वह सत्ता, आत्मा, शरीर छोड देती है तो सब-कुछ समाप्त हो जाता है—न कान सुन सकते हैं, न आँखें देख सकती हैं इत्यादि।

कथा में प्रजापति ने ठीक ही कहा था कि तेरी आँख से जो पुरुष देख रहा है वह आत्मा है, और उसको जानने से तू सब लोकों का स्वामी हो जाएगा, तेरी सारी कामनाएँ पूरी हो जाएँगी, तू परमानन्द को प्राप्त होगा, अतः तू आत्मा को जान। असुरों के राजा तो आत्मा को शरीर मानकर लौट गए, पर इन्द्र ने बार-बार

स्पष्टीकरण माँगकर और 101 वर्ष तक तपश्चर्या कर, आत्मा के रहस्य को जान ही लिया। **छान्दोग्योपनिषद्** में ऐसे और भी कई प्रसंग आते हैं जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार से आत्मा का रहस्योद्‌घाटन किया गया है। ऐसी ही एक कथा उद्दालक-श्वेतकेतु-सम्वाद है जिसमें पिता अपने पुत्र को बड़े सीधे-सादे ढंग से इस रहस्य को समझाते हैं। यदि एक 24 वर्ष का युवक उसे समझ सकता है तो हम और आप क्यों नहीं?

श्वेतकेतु जब 12 वर्ष का होने लगा तो **उद्दालक ऋषि** ने कहा : "बेटा, अपने को केवल ब्राह्मण-बन्धु अथवा मेरा पुत्र कहने से काम नहीं चलेगा, तुझको स्वयं ज्ञानार्जन करना होगा, अपनी पहचान बनानी होगी, अतः तू गुरुकुल मे जाकर शिक्षा ग्रहण कर।" बारह वर्ष के बाद जब श्वेतकेतु गुरुकुल से लौटा, तो एक परिपक्व विद्वान् के रूप में आया, परन्तु वह विद्वत्ता के गर्व की गठरी भी साथ लेकर लौटा। जब घर आकर उसने गुरुजनों को प्रणाम तक नहीं किया तो पिता का माथा ठनका। उन्होंने पुत्र को अपने पास बुलाकर पूछा, "बेटा, तुमने गुरुकुल में क्या-क्या पढ़ा है?" बेटे ने सीना फुलाकर उत्तर दिया, "पिताजी, मैंने क्या-कुछ नहीं पढ़ा—चार वेद, छह शास्त्र आदि-आदि, कहाँ तक गिनाऊँ!" पिता ने पीठ ठोंकी और फिर पूछा, "सौम्य, तुमने ऐसी विद्या भी सीखी है जिसके जानने से सब-कुछ जाना जा सकता है, अनसुना भी सुना जा सकता है, अदृश्य भी देखा जा सकता है?" युवक के तोते उड़ गए, "क्या कह रहे हैं आप? ऐसी कोई विद्या हो ही नहीं सकती जिसे जानने से सब-कुछ जाना सकता है। और यदि है तो मेरे गुरु को या तो वह आती नहीं थी, या उन्होंने मुझे बताई नहीं।"

पिता ने आदेश दिया, "जाओ, वह गमला उठा लाओ। बताओ यह किस चीज का बना हुआ है?" बेटे ने उत्तर दिया—"मिट्टी का।" इसी तरह उसने बताया कि घड़ा, कूण्डा, गिलास आदि सब मिट्टी के बने हैं। पिता ने समझाया, "केवल मिट्टी को जानने से वह मिट्टी द्वारा निर्मित समस्त वस्तुओं को जान सकता है, लोहे को जानने से वह लोहे से बनी हजारों वस्तुओं को जान लेता है, सोना जानने से वह सोने से बने हुए विभिन्न आभूषणों को आसानी से पहचान लेता है, वह गले का गुलूबन्द हो या हार हो, कलाई में पहने जाने वाली चूड़ियाँ हों, पौंहची हों, कंगन हो या और कोई आभूषण। हाँ, यह अवश्य है कि सोना मिट्टी से पृथक् प्रतीत होता है, यद्यपि एक ऐसी अवस्था हो सकती है जिसमें दोनों का अन्तर भी जाता रहे। **स्वामी रामकृष्ण परमहंस** के बारे में कहा जाता है कि वह प्रायः एक हाथ में सोना और दूसरे में मिट्टी ले गंगा के किनारे

बैठ, दोनों को अदल-बदलकर कहते थे—''मिट्टी सोना, सोना मिट्टी'' और फिर दोनों को समान समझते हुए गंगा में विसर्जन कर देते थे। अतः यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि एक वस्तु को जानने से अनेक वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है और श्वेतकेतु ने यह तथ्य अच्छी तरह समझ लिया।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दें : जब हम घड़े को छू रहे हैं तो मिट्टी को ही छू रहे हैं, सोने के बने विभिन्न आकृति के आभूषणों को छू रहे हैं तो वस्तुतः सोने को ही स्पर्श कर रहे हैं। उसका आकार-प्रकार, नाम-रूप, हमारी कल्पना-मात्र है, यथार्थ नहीं। हम पहले तो एक ही वस्तु को अपनी सुविधा तथा प्रयोग के अनुरूप भिन्न-भिन्न आकार दे देते हैं और फिर उनके अलग-अलग नाम रख देते हैं। ध्यान दें, ये सारे नाम और रूप केवल हमारे मन की उपज है, यथार्थ नही हैं। अन्य लोग उसी वस्तु को किसी दूसरे नाम से पुकार सकते हैं, और पुकारते है, उसी मिट्टी, लोहा, सोने से अन्य आकृति की वस्तुएँ निर्मित कर सकते हैं। यदि हम इस तथ्य को भलीभाँति समझ लें—जो बिल्कुल कठिन नहीं है—तो संसार में जो हमको असीम, अनन्त भिन्नता दिखाई देती है वह शतांश भी नहीं रह जाएगी।

उद्दालक ने सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया को बताते हुए जो कुछ रही-सही भिन्नता हमें प्रतीत होती है, उसे भी समाप्त कर दिया। पिता ने कहा : ''हे सौम्य, कुछ लोगों का मत है कि सृष्टि के आदि में कुछ भी नहीं था और 'कुछ नहीं' में से सब-कुछ उत्पन्न हुआ है, यह युक्तियुक्त नहीं है, असम्भव है, क्योंकि तब यह मानना पड़ेगा कि 'असत्' से 'सत्' हुआ। यह कैसे हो सकता है। इसलिए यही मानना उचित है कि प्रारम्भ में सत् ही था—एक अद्वितीय सत्''—**अग्रे आसीत् एकम् एव अद्वितीयम्** (VI-2-2)। उस सत्-रूप चेतन-शक्ति ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ। उसी ने तेज को रचा, तेज से जल हुआ और जल से अन्न। तेज-जल-अन्न—इन तीन भूतों से तीन बीज बने—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज। और इस तरह सृष्टि का विस्तार होता रहा, होता जा रहा है। इस सारी सृष्टि का उद्गम 'सत्' है जो अद्वितीय है। उसी 'सत्' ने भिन्न-भिन्न आकार लिये और उनका अलग-अलग नामकरण कर दिया गया। पर वे समस्त नाम-रूप हमारे मन की उपज हैं, हमारी सुविधा के लिए रखे गए हैं, वस्तुतः तत्त्व एक ही है और वह अद्वितीय 'सत्' है। वह 'सत्', जो भी भिन्नता दिखाई दे रही है, उस सबमें व्याप्त है। जैसा **श्री शंकराचार्य जी** ने कहा है कि जैसे सोने से बने हुए आभूषण, भिन्न-भिन्न आकृति एवं बनावट के बने हुए आभूषण, सोना ही हैं, और कुछ नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म से निकली सृष्टि, असंख्य नाम-रूप की सृष्टि, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, न हो सकती है।

वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है—यह बात श्वेतकेतु की समझ में नहीं आई—यदि वह सब जगह है तो दिखाई तो देता नहीं, और जब दिखाई नहीं देता तो सर्वत्र कैसे माना जाए? पिता ने उसे एक गिलास पानी और नमक का ढेला लाने को कहा। जब वह दोनो चीजें ले आया तो **उद्दालक ऋषि** ने उसके सामने नमक का ढेला जल में डाल दिया और उसको दूसरे दिन आने को कहा। अगले दिन जब श्वेतकेतु गिलास लेकर आया तो पिता ने उसे नमक दिखाने को कहा। युवक ने कहा कि वह तो जल में घुल गया, दिखाई नहीं देता। पिता ने उसे जल चखने को कहा। वह खारा था, नमकीन था, चाहे ऊपर का, बीच का, या नीचे का जल चखो, सारा जल नमकीन था। तब पिता ने समझाया—''हे सौम्य, इससे यह सिद्ध होता है कि चाहे कोई वस्तु दिखाई न दे, फिर भी वह विद्यमान हो सकती है। नमक तुम आँख से नहीं देख सकते, पर एक दूसरी इन्द्रिय जिह्वा से तो चखकर उसका पता लगा सकते हो।'' श्वेतकेतु को यह तर्क स्वीकार करना पड़ा।

हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत की वस्तुओं का ही पता लगा सकते है, अन्दर की नहीं। यहाँ तक कि यदि हमको कही पीड़ा है तो हम स्वयं उसका अनुभव कर सकते हैं, किंतु कोई कहे कि पीड़ा दिखाओ तो हम दिखा नहीं सकते। इन्द्रियों की पहुँच, उनकी पकड़ बहुत सीमित है। किसी तथ्य को समझने के लिए हम एकमात्र उन पर ही निर्भर नहीं रह सकते, और यदि कुछ उनकी सीमा से परे है तो उसको नकार नहीं सकते। हमारा मन भी इन्द्रिय-जनित संवेदनाओं का ही विश्लेषण और संश्लेषण करने में व्यस्त रहता है; अधिकाश निरर्थक संवेदनाओं की ओर ध्यान नहीं देता; कुछ का मूल्यांकन करने के लिए बुद्धि-विवेक के सुपुर्द कर देता है, और बुद्धि अग्रिम कार्यक्रम की रूपरेखा निर्धारित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी अधिकांश योग्यताएँ बहिर्मुखी हैं, भौतिक हैं, स्थूल हैं। पर हम जिस पृथ्वी पर गिरते हैं, उसी का सहारा लेकर उठते भी हैं। ले-देकर ये उन्नीस 'मुख' ही ज्ञानार्जन के हमारे उपकरण हैं और इन्हीं की सहायता से हमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य को जानने का प्रयास करना है। वे हमें लक्ष्य तक न ले-जा सकें, पर काफी दूर तो ले ही जा सकते हैं।

मान लीजिए किसी व्यक्ति को राह चलते कुछ डाकुओं ने लूट लिया, उसकी आँख पर पट्टी बाँध और हाथ-पैर भी रस्सी से बाँध, किसी दूर अनजान स्थान में फेंक दिया हो। अब वह बेचारा क्या करे? केवल चिल्लाकर सहायता माँग सकता है। कोई भला आदमी उधर से निकलता है और उसकी चीख-पुकार सुन उसके पास आकर उसकी आँखों की पट्टी खोल, बन्धनमुक्त कर, उसका

गन्तव्य स्थान पूछता है और उसको वहाँ पहुँचने का मार्ग समझा देता है। उस मार्ग पर मिलनेवाले मोटे-मोटे चिह्न भी वह उसको बता देता है, और वह व्यक्ति उसको हार्दिक धन्यवाद देता हुआ अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ता है। कुछ सौभाग्यवान व्यक्तियों को छोड़, यही दयनीय अवस्था हम सब की है। हमारी बहिर्मुखी इन्द्रियों ने, और उनके सरदार मन ने हमें लूट लिया है, हमारी आँखों पर अज्ञान की पट्टी बँधी हुई है, सांसारिक बन्धनों ने हमें जकड़ रखा है और हम किसी अनजान स्थान पर पड़े हुए हैं। अन्तर यह है कि हममें से अधिकांश इसी हाल में खुश हैं, मस्त हैं, हमें अपना लक्ष्य भी नहीं पता और न हम किसी से सहायता के लिए चिल्लाते ही हैं। जो महानुभाव सांसारिक सुख से संतुष्ट नही हैं और आनन्द की खोज में निकल पड़े हैं उनको कभी न कभी, कोई न कोई दयालु मार्गदर्शक मिल ही जाता है। वह उनकी आँखों से अज्ञान की पट्टी खोलता है, उनको शनैः-शनैः बन्धनों से मुक्त करता है और अपने 'घर' पहुँचने का मार्ग दिखाता है। जब वे सच्चे मार्ग पर चल पड़ते हैं तो उनको उपनिषद् जैसे ग्रंथों के सुस्पष्ट निर्देशक, आनन्द-मार्ग को और भी सुगम बना देते हैं।

आनन्द की खोज इतनी दु:साध्य नहीं है जितनी हम मान बैठे हैं; दुष्कर है यह कि हमने उसकी खोज आरम्भ ही नहीं की है। केवल अपने लक्ष्य को निश्चित करने, और उसकी ओर अग्रसर होने का संकल्प लेने की देर है। मार्ग मे चोर-डाकू मिलेंगे ही, उनसे सतर्क रहें। सबसे बड़ा चोर तो हमारा अपना मन ही है, इसने 'आत्मा' को चुरा लिया है। एक बार निरन्तर जागरूकता के अभ्यास से हम यह समझ लेंगे कि शरीर और मन आत्मा नहीं है, यह केवल उसकी सवारी हैं, उसका वाहन हैं, तो शेष यात्रा अत्यन्त सुगम एवं आनन्ददायिनी हो जाएगी।

3. "तू वही है"

श्वेतकेतु घमण्ड के घोड़े पर सवार जब गुरुकुल से घर लौटा तो ऋषि उद्दालक ने शीघ्र ही उसे धरती पर धर दिया। फिर पिता ने बड़े प्यार से अपने प्रिय पुत्र को बताया कि एक ऐसी विद्या भी है जिसे जानने से संसार का सब-कुछ जाना जा सकता है। वह है ब्रह्मविद्या और ब्रह्म दिखाई न देने पर भी सर्वत्र विद्यमान है। यह सब जानकारी उन्होंने श्वेतकेतु को सुकराती पद्धति से दी, अथवा जो कुछ वह अच्छी तरह जानता था उससे आरम्भ कर धीरे-धीरे उसे,

और उसके सहारे आपको और हमें भी, इस परमानन्ददायक ज्ञान से अवगत कराया। 'सत्' ने इच्छा की 'मैं बहुत हो जाऊँ'—**ऐक्षन्त बहुयः स्याम** (VI-24)। वह तेजोमय तो था ही, तेज से जल, जल से प्राण, और उनसे अन्न, अर्थात् संसार के समस्त भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति हुई। प्रत्येक महाभूत तीन-तीन भागों में बाँटकर उन्होंने सारी सृष्टि का सर्जन किया। फिर **उद्दालक** ने एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथ्य की घोषणा कर दी—"हे सौम्य, तू ही वह 'सत्' है।"

चौबीस वर्ष का वह युवक यह सुनकर विस्मित हो गया, भौंचक्का रह गया—"क्या कह रहे हैं आप पिताश्री! मैं, एक तुच्छ अज्ञानी युवक, 'वह' हूँ? यह कैसे हो सकता है? हो ही नहीं सकता। कृपया क्या आप यह रहस्य विस्तारपूर्वक समझाने का कष्ट करेंगे?" ऋषि तो स्वयं ब्रह्मज्ञानी थे, आत्मा मे, 'उस' में लीन रहते थे, जीवनमुक्त थे। उनके लिए सच्चिदानन्द का अनुभव गूँगे के गुड़ के समान नहीं था। वह तो उस आनन्द को चख चुके थे, अतः वह इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व को बताने के पूर्ण अधिकारी थे। श्वेतकेतु भी सच्चा जिज्ञासु था, मुमुक्षु था। शब्द-ज्ञान—भिन्न-भिन्न विषयों का साधारण ज्ञान—तो उसने गुरुकुल में ही प्राप्त कर लिया था; उन सबके मूलज्ञान, आत्मज्ञान की ही कमी थी। चिंगारी तो मौजूद थी; उसको और भी प्रज्वलित करने की आवश्यकता थी। चिंगारी तो हम सबमें विद्यमान है, पर वह ममता-मोह, काम-क्रोध, मल-विक्षेप के घास-फूँस से दबी हुई है। जैसे-जैसे हम इन विकारों को हटाएँगे, इनका ढेर हल्का होगा, चिंगारी स्वतः ज़ोर पकड़ने लगेगी; कोई मार्गदर्शक मिल गया तब तो वह अज्ञान के अंधकार को शीघ्र ही दूर करा देगा और चिंगारी भड़क उठेगी। यह मत सोचें कि 'मार्गदर्शक कहाँ मिलेगा, **उद्दालक** जैसे ब्रह्मज्ञानी अब कहाँ देखने को मिलते हैं!' ज्ञानमार्ग दिखानेवाले विश्व में सब जगह मिलते हैं और भारत में तो जैसे उनका गढ़ है। हमारी जिज्ञासा तीव्र नहीं है। क्या आपके अन्दर अच्छा गुरु ढूँढने की वैसी ही तड़प है, जितनी धनोपार्जन की? जिस दिन वह बेचैनी उत्पन्न हो जाएगी, आपके योग्य गुरु द्वार पर आकर स्वयं दस्तक देगा, विश्वास कीजिए।

हाँ, तो **उद्दालक** ने समझाया कि जो 'सत्' सब जगह है, तुम भी उसका अपवाद नहीं हो; तेरे ही अन्दर वह नहीं है, क्या ऐसा सम्भव हो सकता है? एक तरह से, 'उस' को बाहर पहचानना अधिक कठिन है। जब हम आँख उठाते हैं तो मेज़, कुर्सी, दरवाज़ा देखते हैं। फिर हम विश्लेषण करें कि ये सब एक ही उपादान—लकड़ी द्वारा निर्मित हैं। इसी प्रकार अनेक अन्य वस्तुएँ दिखाई देती हैं। प्रत्येक वर्ग में जिस मूल भौतिक पदार्थ से उस वर्ग की विभिन्न वस्तुओं की संरचना हुई है वह भी हम चिन्तन-मनन द्वारा समझ सकते हैं। पर मेज़, कुर्सी, पुस्तक,

कागज़—ये सब उस 'सत्' के, ब्रह्म के ही रूप हैं—यह तथ्य हृदयंगम करने के लिए बहुत अभ्यास, बड़े गम्भीर ध्यान की आवश्यकता है। फिर हमें यह भी जानना होगा कि ये सब मानव—स्त्री, पुरुष इत्यादि—तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंग—केवल एक 'सत्' में समाए हुए हैं, इसको आत्मसात् करना और भी कठिन है।

उद्दालक ऋषि इस गहन विषय को समझाने के लिए तरह-तरह के उदाहरण देते हैं। शायद उनकी कुटिया के सामने कोई वटवृक्ष होगा। उन्होंने अपने पुत्र से उस वृक्ष के फल लाने को कहा। श्वेतकेतु फल ले आया। उस फल को तोड़ा गया, उसमें कितने ही छोटे-छोटे बीज निकले। फिर उनमें से एक बीज को तोड़ने का आदेश दिया और पूछा, "इसमें क्या देखते हो?" उत्तर मिला, "पिताजी, इसमें तो कुछ नहीं दीखता।" ऋषि ने समझाया, "हे सौम्य, जिसे तू 'कुछ नहीं' कह रहा है, जिस अणु-रूप को तू देख नहीं पा रहा है, इस अणु-रूप में से यह महान् वटवृक्ष निकलकर खड़ा है : **एषः अणिम्नः एवं महान् न्यग्रोधः तिष्ठति** (VI-12-2)। ऐसे ही इस 'सत्' से निकलकर विशाल जगत दीख रहा है। और श्वेतकेतु, तू, मेरा आत्मतत्त्व, 'सत्' है, तेरा शरीर तत्त्व-वस्तु नहीं—तत्त्वमसि—'तू वह है'—**स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!** (VI-12-3)।

जैसे शहद के छत्ते में मधुमक्खियाँ नाना प्रकार के फूलों के रसों का शहद बनाती हैं और उस शहद में यह पहचान करना कठिन ही नहीं असम्भव है कि इसमें किस-किस फूल का रस है, उसी तरह हम सब प्राणी—मानव, पशु-पक्षी आदि—'सत्' में पहुँचकर अपनी अस्मिता खो देते हैं, और फिर भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। कम से कम मानव-योनि पाने के बाद तो मानव को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह 'सत्' की सत्ता को पहचानकर, इसी जन्म में 'सत्' के साथ इस प्रकार आत्मसात् हो जाए जैसे कि शहद में भिन्न-भिन्न फूलों के रस, उनकी अलग पहचान ही न हो सके। और यह सम्भव है क्योंकि "हे श्वेतकेतु! तू भी वह है—तू भी उसकी तरह 'सत्' है (VI-9-4)। ऐसा ही एक और उदाहरण देकर ऋषि ने समझाया कि कितनी ही नदियाँ पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं, और फिर सब समुद्र में मिल जाती हैं। सिंधु में गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, नर्मदा, कृष्णा, कावेरी, सारी की सारी अपनी निजी पहचान खो देती हैं, केवल एकमात्र अनन्त सिंधु हो जाती हैं। यदि आप समुद्र से एक लोटा जल लें तो यह नहीं बता सकते कि वह पानी किस नदी का है। इसी तरह समस्त जीव, मानें या न मानें, अपनी-अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार उस अनन्त, आनन्दमय ब्रह्म की ओर बह रहे हैं। देर-सबेर मिलना सबको उसी सिन्धु से है। कुछ सौभाग्यवान् इसी योनि में, इसी जन्म में

सच्चिदानन्द का अनुभव करने में सफल हो जाते हैं और किन्हीं को अनेक योनियों तथा जन्मों से होकर जाना होता है। अब आत्मज्ञान कहने-सुनने से तो होता नहीं; वह शब्दों से परे है, वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती—वह तो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के अन्त:करण की पकड में भी नहीं आ सकता। किसी ने ठीक ही कहा है—*अक्ल में जो घिर गया, लाइन्तहा क्योंकर रहा!* उसको तो उदाहरणों और उपमाओं की सहायता से समझाने का प्रयासमात्र किया जा सकता है। **उद्दालक ऋषि** ने यही किया और तरह-तरह से अपने पुत्र को यह बताने का प्रयत्न किया—"हे सौम्य, 'तू वह है' (VI-10-2, 3)।

ऋषि ने सृष्टि की संरचना से आरम्भ किया और बताया कि यह ब्रह्माण्ड 'सत्' से उपजा है, 'असत्' से नहीं। जब ब्रह्म ने इच्छा की 'मैं बहुत हो जाऊँ' तो पहले तेज उत्पन्न किया, फिर जल एवं अन्न को। जैसे ब्रह्माण्ड में हुआ वैसा ही, उसी के अनुरूप पिण्ड में भी हुआ और इस तरह सृष्टि का विस्तार होता गया। अत: 'सत्' बाहर समस्त संसार में विद्यमान है. और उसी तरह पिण्ड में भी स्थित है। इन महाभूतों में अन्न, अथवा समस्त भौतिक पदार्थो का, जल में विलय हो जाता है, जल का तेज में और तेज का 'सत्' मे। इस प्रकार जैसे सृष्टि की संरचना मूल रूप से, 'सत्' से हुई है, उसी तरह सारी सृष्टि 'सत्' में ही लीन हो जाएगी। केवल 'सत्' से इतनी व्यापक सृष्टि कैसे रची जा सकती है, इसे समझाने के लिए उद्दालक ने अनेक उदाहरण दिए, जैसे इतना विशाल, लहलहाता हुआ, हरा-भरा वटवृक्ष यदि एक राई-जैसे बीज में समाहित है तो सारी सृष्टि भी केवल एक, अद्वितीय सत्ता से उपज सकती है।

यह आज की एक वैज्ञानिक मिसाल से भी समझा जा सकता है। हमारे शरीर में करोड़ों कोशिकाएँ हैं। एक कोशिका का आकार पिन की टोपी जितना छोटा होता है। उसका केन्द्र 'न्यूक्लियस' कहलाता है जिसके चारों ओर 'प्रोटोप्लाज़्म' होता है, अर्थात् 'न्यूक्लियस' पिन के सिर से भी छोटा होता है। इस केन्द्र में छत्तीस 'क्रोमोसोम्स' यानी गुणसूत्र होते हैं और डी०एन०ए० के ऐंठे हुए दो तार-जैसे होते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र पर जीन्स की लड़ी होती है जो वंशानुगत सूचनाओं का भण्डार होती है। पहले तो 'जीन्स' की सख्या लाखों में मानी जाती थी, पर अभी-अभी जो मानव का 'जीनोम' नक्शा तैयार किया गया है उसके अनुसार ये केवल 30,000 के लगभग होते हैं। तो आपने देखा कि इतनी नगण्य कोशिका में मानव का समस्त इतिहास समाहित रहता है, तो फिर राई- बराबर बीज में वटवृक्ष समाया हुआ है, या 'सत्' में सारी सृष्टि निहित है, उसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

जब यह 'सत्' सारी सृष्टि में ओतप्रोत है, तब हमारे अन्तस्तल में क्यों नही है ? यदि बाह्यजगत में हमें भिन्नता में अभिन्नता जानने में कठिनाई होती है तो हम अपने अन्तस्तल में विराजमान 'सत्' को समझने का प्रयत्न करें, क्योंकि मूलत: हम सब 'वही' 'सत्' हैं। जैसे दर्पण पर गर्द जमा हो जाती है वैसे ही इस 'सत्' पर विभिन्न विकारों की गर्द जम गई है। स्वयं, अपने-आप, या किसी की सहायता से, हमें ज्ञान और समझदारी के स्वच्छ कपड़े से इस धूल को हटाना है, 'सत्' के स्वत: दर्शन हो जाएँगे। जैसे किसी ने ठीक ही कहा है :

दिल के आईने में है तस्वीरे-यार।
जब ज़रा गर्दन झुकाई, देख ली॥

4. सब-कुछ ऊर्जा की लहरें हैं

जिस सहज एवं सुस्पष्ट ढंग से छान्दोग्योपनिषद् में उद्दालक ऋषि ने अपने सुपुत्र श्वेतकेतु को आत्मा का रहस्य समझाया है, संसार के समस्त साहित्य में सम्भवत: कहीं भी देखने-पढ़ने को नहीं मिलेगा। जो स्वयं आत्मसाक्षात्कार कर चुका है, वही इतनी सटीक व्याख्या कर सकता है। पिछले लेख में ऋषि ने बताया कि सृष्टि की उत्पत्ति सत् से हुई। बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् एवं वैज्ञानिक इस विचारधारा का अनुमोदन करते नहीं लगते। कुछ का तो कहना है कि सृष्टि जैसी है, सदा से है और ऐसी ही सदा रहेगी, उत्पत्ति का प्रश्न ही कहाँ उठता है! इस मत को 'स्टेडि-स्टेट' कहते हैं। अन्य वैज्ञानिक कहते हैं कि सबसे पहले एक भीमकाय बादल था, क्रमश: उसका घनत्व बढता गया, बढ़ता गया, और फिर एक जोरदार धमाके से वह फट गया और उसके अनेक छोटे-बड़े टुकड़े होकर अन्तरिक्ष में इधर-उधर बिखर गए और ग्रह-नक्षत्र बन गए। यह सिद्धान्त 'बिग बैंग' के नाम से जाना जाता है। प्रश्न यह उठ सकता है कि वह मूल बादल कहाँ से आया, उसको किसने रचा ?

इसी तरह यह भी पूछा जा सकता है कि 'सत्', जिसने सृष्टि का सर्जन किया, वह कहाँ से आया ? 'सत्', सत् से तो उत्पन्न हो नहीं सकता, और यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि असत् से 'सत्' की उत्पत्ति हुई। अत: यही मानना पड़ेगा कि आदि-'सत्' कारण-हीन रहा होगा। इसी तरह यह भी कहा जा सकता

है कि आदि-बादल भी कारणहीन था। पर दोनों मतों में एक गंभीर अन्तर है। बादल तो निष्प्राण था, उसमें किसी चेतना का उल्लेख नहीं है, फिर निष्प्राण तत्त्व से प्राण कैसे उपजा—यह समस्या सामने आ जाती है। जो संसार को 'माया' मानते हैं, शरीर और मन को भी मिथ्या कहते हैं, वे आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार करते ही हैं, और हमारे अन्तस् में कोई चैतन्य शक्ति है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। फ्रांसीसी दार्शनिक **देकार्त** (1596-1650) ने अपने दर्शन का श्रीगणेश ही इस आधार पर किया : "मैं चिन्तन कर सकता हूँ, इसलिए मैं हूँ, मेरा अस्तित्व है।''''मुझे किसी बात पर विश्वास न हो, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि मैं हूँ और हम सब उसी 'मैं' की खोज में लगे हुए हैं।" आपको आश्चर्य होगा कि **देकार्त** ने 1641 में एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक ध्यान (**मैडिटेशन**) है। उपनिषदों के मंत्र भी विभिन्न प्रकार के ध्यान ही हैं।

उस 'सत्' ने इच्छा की "मैं एक से अनेक हो जाऊँ"—**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति** (VI-2.3) और उसने पहले तेज, अग्नि को रचा, फिर जल तथा अन्न को। यहाँ अग्नि, जल आदि से साधारण आग-पानी का अर्थ नहीं है। उपनिषत्कार का आशय अग्नि तथा जल के तत्त्व से है। इसी तरह 'अन्न' केवल संकेत-मात्र है, इसका अर्थ समस्त भौतिक पदार्थों से है, जो विचार का विषय है वह भी अन्न ही है। ये सूक्ष्म रूप में मूल तत्त्व हैं, परा-भौतिक तन्मात्राएँ हैं जिनके सम्मिश्रण से ही संसार के समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण हुआ। इन तीनों तत्त्वों अथवा उनकी तन्मात्राओं का क्रम-परिवर्तन उस एक 'सत्' का ही विस्तार है, उससे निकला है, उसका ही सूक्ष्म रूप है। अन्तर केवल घनत्व का, उनकी विभिन्न लहरों का, प्रदोलन का है। अन्यथा—**सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः** (VI-8-4) सम्पूर्ण प्राणि-जगत का मूल 'सत्' है, इसका आयतन 'सत्' है, इसकी प्रतिष्ठा 'सत्' है, सब-कुछ उस 'सत्' का ही प्रसार-मात्र है।

श्वेतकेतु ने पिता से प्रार्थना की, "यह सब-कुछ उस 'सत्' का प्रसार है—इस विषय को और विस्तार से समझाने की कृपा करें।" **उद्दालक ऋषि** ने बताया कि "ब्रह्माण्ड हो या पिण्ड, संसार के फैलाव में अग्नि-जल-अन्न इन तीन महाभूतों में प्रत्येक तीन-तीन बार आवृत हो जाते हैं। पहले अन्न को लें, जिससे हम सब भली-भाँति परिचित हैं—यह भी तीन भागों में बँट जाता है। स्थूल रूप में वह विष्ठा बन जाता है, मध्य रूप में मांस और सूक्ष्म रूप में मन।" यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि मन भी भौतिक है, उसको कदापि आत्मा नहीं माना जा सकता, बहुत लोग यह भूल कर बैठते हैं। उद्दालक ने इस तथ्य को प्रयोग करके सिद्ध किया। उन्होंने श्वेतकेतु को 15 दिन तक केवल जल पीकर ही जीवन-

निर्वाह करने को कहा। फिर उसे बुलाकर वेदों की ऋचाएँ सुनाने का आदेश दिया। श्वेतकेतु की स्मृति मन्द पड गई थी, वह एक भी ऋचा याद नहीं कर पाया। तब उसे भोजन करने के लिए कहा गया और उसके बाद उसे सब सिखाई हुई बातें पुन याद आ गईं। **अन्नमयं हि सोम्य मनः**—मन, हे प्रिय, अन्न से ही बना है, मन पर ही आश्रित है (VI-5.4)। इसी तरह जल भी तीन भागों में बँट जाता है। उसका स्थूल तत्त्व मूत्र, मध्यम तत्त्व रुधिर, और सूक्ष्म तत्त्व प्राण बन जाता है।

घी, तेल, मक्खन, वसा आदि तैजस पदार्थ भी खाने के बाद तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं—स्थूल तत्त्व अस्थि बन जाता है, मध्यम मज्जा और सूक्ष्म तत्त्व वाणी। जब दूध या दही मथा जाता है, तब उसका सूक्ष्म अंश मक्खन के रूप में ऊपर आ जाता है। इसी तरह जो भोजन हम खाते हैं वह हमारे उदर में जैसे मथा जाता है। अन्न का सूक्ष्म अंश—जो उसका सार है, निचोड है—मन बनता है; जल का सार प्राण और तेज का सूक्ष्म रूप वाणी के रूप में प्रकट होता है। अतः मन 'अन्नमय' है, प्राण 'आपोमय' और वाक् 'तेजोमयी' है। किसी व्यक्ति में सोलह कला कही जाती हैं। पंद्रह दिन के उपवास के बाद, केवल जल पर, एक कला के आधार पर ही जीवित रहने से, क्योंकि प्राण जलमय है इसलिए प्राण नहीं टूटेगा, पर मन और वाणी को अपना-अपना आहार न मिलने के कारण वे लुप्तप्राय हो सकते हैं। जैसे भूसे के ढेर में एक चिंगारी रहने पर भी यदि उसको हवा दी जाए तो अग्नि प्रज्वलित हो सकती है, इसी तरह अन्न तथा वसा के योगदान से व्यक्ति में फिर स्मरण-शक्ति तथा बातचीत करने की योग्यता आ जाती है। वह पुनः चिन्तन-मनन, तर्क-वितर्क द्वारा किसी वस्तुस्थिति का मूल्यांकन कर उचित निर्णय ले सकता है। मंथन केवल उदर में ही नहीं होता, अन्तःकरण में भी होता है और तेज-जल-अन्न के विलोड़न के कारण हमारे कार्यक्रम चलते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। साधारणतः प्रकृति की उत्पत्ति के पाँच उपकरण, पाँच महाभूत माने जाते हैं। **उद्दालक ऋषि** ने ऐसा लगता है केवल तीन महाभूत ही बताए हैं। अन्न में तो पृथ्वी तथा संसार के समस्त भौतिक पदार्थ आ जाते हैं; जल, प्राण अथवा वायु का मूल माना गया है, आकाश को पाँचवें तत्त्व के रूप में बहुत दार्शनिक नहीं स्वीकार करते। बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी भी इसको मान्यता नहीं देते। वैसे 'आकाश', 'शून्य', की सर्वज्ञता में कोई आपत्ति भी नहीं होनी चाहिए। जिस तरह ये तीनों और चारों महाभूत एक ही सत्ता से उत्पन्न हुए हैं, उसी तरह ये सब उसी में लीन हो जाते हैं—अन्न (पृथ्वी) जल में और जल तेज (अग्नि) में।

यह जो भिन्नता दिखाई दे रही है, जिस सत्ता ने यह उत्पन्न की है, यदि वह

स्वयं ही उसका मूल कारण है तो सारी विभिन्नता समाप्त हो जाती है, केवल काल्पनिक, मीमांसात्मक रह जाती है, उसकी अपनी कोई निजी सत्ता नहीं है, अस्तित्व नहीं है। जिसके द्वारा यह विस्तार खड़ा हो गया है वह जैसा पहले था वैसा ही अब है और आगे भी वैसा ही रहेगा—सोने के अनेक आभूषण बन जाने से सोने में कोई अन्तर नहीं आता; उनको गलाकर, ढालकर दूसरे डिज़ाइन के अन्य आभूषण बना लो, सोना तो सोना ही रहेगा। या यूँ समझें कि एक जलती हुई मशाल को आप बहुत वेग से इधर-उधर या गोलाकार घुमाते हैं तो अग्नि टेढ़ी-तिरछी अथवा गोलाकार दिखाई देती है, पर अग्नि तो अग्नि ही रहती है, उसके भिन्न रूप दृष्टि-भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। मेरा बचपन बरेली नगर में बीता। वहाँ दीपावली के अवसर पर एक खिलौना बिकता था जिसको शिकारगाह कहते थे—लगभग डेढ़ फीट का एक पतले काग़ज़ से मढ़ा हुआ डेढ़ फीट ऊँचा यंत्र, जिसके अन्दर खपच्चों के गोले पर काग़ज के छोटे-छोटे हाथी, घोड़े, शेर की आकृतियाँ चिपकी होती थीं। वह बीचोंबीच एक धुरी पर लटका होता था और वह अन्दर का गोला घुमा दिया जाता था। बीच में एक जलता हुआ दीपक रख देते थे जिससे उन पशुओं की छाया बाहर के काग़ज़ पर पड़ती थी। अँधेरे मे जब अन्दर के गोले को घुमाते थे तो बाहर के गोले पर उन पशुओं की छाया दौड़ती हुई दिखाई देती थी और ऐसा लगता था जैसे शेर से डरकर पशु भाग रहे है और शेर उनका पीछा कर रहा है। दीपक बुझा और सारा खेल समाप्त। कुछ ऐसा ही तमाशा हो रहा है इस प्रतिपल गतिमान जगत में। यह सब उस परम ज्योति को अन्तस् की आँखों से देखने के भिन्न-भिन्न उपाय हैं। क्या पता कौन-सा उदाहरण, कौन-सी युक्ति समझ में आ जाए!

5. नाम-रूप से 'भूमा' तक

आपने उद्दालक-श्वेतकेतु के प्रबुद्ध संवाद का आनन्द तो ले लिया, छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार-नारद का एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंग है जिससे आपको वंचित नहीं रहना चाहिए। इसे पढ़ने से जो आपको जानकारी मिलेगी उससे आप धन्य हो जाएँगे और आपको आत्मसाक्षात्कार में एक अद्‌भुत नई दिशा मिलेगी। इसमें तीन-चार बातों पर बहुत बल दिया गया है। एक तो यह कि केवल शब्द-ज्ञान प्राप्त कर लेने से आपको आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती,

जो कुछ जाना है, तद्वत् जीने से ही लाभ होगा। दूसरे, शब्द-ज्ञान भी निरर्थक नहीं है, अत्यन्त आवश्यक है। तीसरे, आत्मज्ञान का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए एक-एक पौढ़ी चढ़कर ही पहुँचना होगा, एकदम नहीं पहुँच सकते, पग-पग ही आगे बढ़ना होगा। भगवान् सनत्कुमार आकाश महाभूत को भी मान्यता देते हैं। इस मार्ग पर चलनेवालों को और कई पड़ावों, जैसे संकल्प, ध्यान, विज्ञान, आशा इत्यादि, के योगदान पर भी बल देते हैं। उनकी व्याख्या बहुत विशद है, कहीं-कहीं उसे समझना भी कठिन है। हम यहाँ केवल मोटे तथ्यों की ही चर्चा कर सकेंगे।

महर्षि नारद की विद्वत्ता का वर्णन करना सम्भव नहीं है। उन्होंने वेद, शास्त्र, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, आदि का गहन अध्ययन किया, फिर भी उनको शान्ति नहीं मिली, आनन्द का अनुभव नहीं हो पाया। वह ब्रह्मा जी के सुपुत्र सनत्कुमार के पास शिष्य के रूप में ज्ञान प्राप्त करने जाते हैं। सनत्कुमार जी कहते हैं, "हे नारद, तूने अवश्य ही बहुत-कुछ पढ़ा है लेकिन केवल शब्द-ज्ञान ही प्राप्त किया है, केवल आक्षरिक अर्थ को जाना है, तू उसकी आत्मा से अनभिज्ञ है, इसी कारण तू अशांत है। तू पहले नाम की ही उपासना से आरंभ कर, उसको ही ब्रह्म मानकर आगे बढ़—"**नामैवैतन्नामोपास्स्व इति।**" जितने भौतिक पदार्थ हैं, प्रत्येक का कोई न कोई नाम है और तदनुसार रूप है। इन पदार्थों की सत्ता को समझना, उनकी चहुँमुखी वास्तविकता को भली-भाँति जानना—यह पहली सीढ़ी है। 'तू नाम को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना कर'—इसका अर्थ यह है कि हमें रसायन एवं भौतिक विज्ञान द्वारा भौतिक वस्तुओं को भी जानने का प्रयत्न करना चाहिए। केवल यह कहते रहना कि यह मेज़, यह कुर्सी ब्रह्म हैं, पर्याप्त नहीं है; उनकी संरचना को, अणुओं के मेल तथा इलेक्ट्रोन क्वार्क—ऊर्जा—की संख्या जानने के बाद हमें उनकी असलियत का पता चलेगा।

सनत्कुमार का कहना है हम तुरन्त शिखर पर नहीं पहुँच सकते, आनन्द-सागर में डुबकी नहीं लगा सकते, एम० ए० की परीक्षा पास नहीं कर सकते। बात बहुत साधरण है पर अधिकांश लोग ऐसी ही अनधिकार चेष्टा करते हैं, और फिर असफल होने पर निराश हो जाते हैं। अपनी पुस्तक जीने की कला में, मन पर विजय पाने के मैंने कुछ उपाय बताए हैं। मेरे पास बहुत पत्र आए हैं जिनमें यह कहा गया है कि ध्यान नहीं लगता। ध्यान लगाने के लिए अन्तर्मुखी होना, प्रत्याहार का अभ्यास करना, काम-क्रोध लोभ-मोह जैसे विकारों को कम करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे-जैसे आपका यह अभ्यास बढ़ता जाएगा, ध्यान स्वतः लगने लगेगा। एक ओर तो आपकी इन्द्रियाँ जो अपने विषयों की ओर दौड़ने की आदी हैं, उन पर कोई अंकुश नहीं लगाएँगे, ममता-मोह को कम करने का प्रयास

नहीं करेंगे, और दूसरी ओर ध्यान भी केन्द्रित करना चाहेंगे तो यह कैसे सम्भव है। सनत्कुमार जी यही शिक्षा दे रहे हैं कि सबसे पहले आप नाम और रूप की वास्तविकता को जानें, फिर आगे दूसरा पग उठाएँ।

दूसरा पग है 'वाणी' की उपासना जो 'नाम' का ज्ञान कराती है। वाणी चार प्रकार की होती है—वैखरी जिसमें ज़ोर से बोला जाता है, तदुपरान्त मध्यमा, पश्यति और परा जहाँ वाणी जैसे अन्तर् में समा जाती है। जैसे-जैसे हम वैखरी से आगे बढ़ते हैं, वाणी की शक्ति बढ़ती जाती है, और 'मूकवाणी' सबसे अधिक प्रभावशाली होती है। बीजमन्त्र अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं पर उनका कंपन अत्यन्त तीव्र कहा जाता है। नाम और वाणी का चोली-दामन का साथ है। एक के अभाव में दूसरा सम्भव नहीं लगता। पर यदि मन का सहयोग न हो तो नाम और वाणी दोनों की कल्पना नहीं की जा सकती। मन की माया से, उसकी शक्ति से सभी परिचित हैं। पर जब हम 'मन' को आत्मा मानने लगते हैं तब हम भटक जाते हैं। मन को तो हमे आत्मा में लीन करना होता है जिसके लिए हमें 'ध्यान' का सहारा लेना पड़ता है। पर ध्यान तो हम तभी कर सकेंगे जब हमारी 'इच्छाशक्ति' बलवती होगी। ऐसा न होने से ध्यान नहीं जम पाता और लोग ध्यान न कर पाने की शिकायत करते हैं। इच्छा और 'संकल्प' की सहायता से ध्यान सुगम हो जाएगा। पर इच्छाशक्ति एवं संकल्प का आधार 'चित्त' है। जब किसी विषय की 'चेतना' होती है, अनुभूति होती है, तभी संकल्प उठता है। **चित्तमात्मा, चित्तं प्रतिष्ठा, चित्तम् उपास्स्व इति** (VI-5-2), इसलिए "हे नारद, तू चित्त को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना कर।"

आपने ध्यान दिया होगा कि सनत्कुमार महर्षि नारद को 'नाम' से लेकर आगे की सभी कड़ियों को ब्रह्म मानकर उपासना करने का आदेश देते हैं, और जब तक एक ध्यान परिपक्व न हो जाए, तब तक आगे बढ़ने का, अगला क़दम उठाने का, परामर्श नहीं देते। इसकी पृष्ठभूमि में एक और आशय निहित है—आप नाम, वाणी, मन, संकल्प, चित्त किसी का भी चिन्तन करें, ब्रह्म का ध्यान निरन्तर, अबाध रूप से चलता ही रहेगा। चित्त की गति भी सीमित है। ध्यान चित्त से, अनुभूतियों से बड़ा है। अनुभूतियाँ अनेक होती हैं; जब वे किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती हैं तो वह 'ध्यान' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई मानव बिना ध्यान के किसी भी कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् चित्त की एकाग्रता चित्त से बढ़कर हुई। अनुभूतियाँ अच्छी भी हो सकती हैं और बुरी भी, बड़ी भी हो सकती हैं और अल्प भी। इसकी समझ 'विज्ञान' द्वारा होती है जिसमें किसी विषय की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जाती है, उसके

विभिन्न पक्षों का निरीक्षण करना होता है, उसको विश्लेषण तथा संश्लेषण द्वारा हर प्रकार से समझना होता है। यहाँ नारद महर्षि ने जो वेदशास्त्र का अध्ययन किया है उनको गिनाते हुए सनत्कुमार अपने कथन को और भी स्पष्ट करते हैं— यह कठिन कार्य कार्यान्वित करने के लिए 'बल' आवश्यक है। यह 'बल' केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक एवं आध्यात्मिक भी होना आवश्यक है और यह बल 'अन्न' से प्राप्त होता है। जिससे शारीरिक अथवा मानसिक पुष्टि प्राप्त हो वह सब 'अन्न' के अन्तर्गत समझना चाहिए। अतः अन्न, बल से बढ़कर हुआ। यदि कोई व्यक्ति दस दिन-रात तक कुछ न खाए तो वह 'अद्रष्टा', 'अश्रोता', 'अमन्ता', 'अबोद्धा', 'अकर्ता' और 'अविज्ञाता' हो जाता है अर्थात् उसका मन भी काम करना छोड़ देता है।

ऋषि ने आगे समझाया कि 'जल' से ही अन्न उत्पन्न होता है इसलिए जल को अन्न से अधिक महत्त्वपूर्ण मानना होगा। अच्छी वृष्टि से अधिक अन्न उत्पन्न होता है और अपर्याप्त वर्षा से कम, मानो जल ही मूर्तरूप धारण किए हमारे सामने पृथ्वी, द्यौ, मानव, पशु-पक्षी-वनस्पति-कीट-पतंग बना उपस्थित है। जो जल को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह सब कामनाओं को पा लेता है और तृप्त हो जाता है—**सः यः अपः ब्रह्म इति उपास्ते, आप्नोति सर्वान् कामान्, तृप्तिमान् भवति** (VII-10-2)। पर 'तेज' जल से बड़ा है क्योंकि तेज ही वायु को साथ ले आकाश तपाता है और तब वृष्टि होती है। तेज ही गरजता है, बिजली बन चमकता है और वर्षा बन बरसता है। जो तेज को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्वयं तेजवान्, प्रकाशवान् हो जाता है। जल का तेज द्वारा वाष्प बनकर बरसना—सब 'आकाश' के आश्रय में होता है। आकाश में ही सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र आदि रमण करते हैं। पर 'स्मृति' आकाश से बड़ी है। आकाश में तो शब्द आता है और चला जाता है, स्मृति में शब्द स्थिर होकर बैठ जाता है, समा जाता है। यहाँ स्मृति का अर्थ केवल साधारण स्मरणशक्ति न होकर एक व्यापक व्यंजना है जो आकाश में सर्वज्ञ चेतना की प्रतीक है, स्वयंभू है। जैसे सारी सृष्टि एक चेतना से ओतप्रोत है, उसी तरह स्मृति भी सर्वत्र विद्यमान है। तभी तो उसको आकाश से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। आप देख रहे हैं कि हमें क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म की दिशा में ले-जाया जा रहा है। यह 'पाठ' केवल पढ़ने से ही समझ में नहीं आएगा, हमें प्रत्येक पग पर, प्रत्येक कड़ी पर— जैसे कक्षा में—ठहरकर, उस तत्त्व पर चिन्तन-मनन कर उसको सिद्ध करने के बाद ही, दूसरा कदम उठाना है, आगे बढ़ना है। यदि इस अभ्यास में सारा जीवन लग जाए, तो भी सौदा बुरा नहीं है। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों का

सन्तुलन करते हुए लक्ष्य की ओर चलना है।

स्मृति का बीते हुए समय से, भूतकाल से सम्बंध है, पर 'आशा' स्मृति को भविष्य से जोड़ती है। आशा के सहारे मानव कार्यरत रहता है, इस लोक और उस लोक की अनेक इच्छाएँ करता है। अतः 'आशा' का क्षेत्र स्मृति से अधिक व्यापक है, विशाल है। आशा का दीप तभी जलता है जब 'प्राण' रहते हैं, 'जीवन' होता है, इसलिए प्राण या जीवन आशा से बड़ा है। प्राण जैसे जीवन–चक्र की धुरी है, सब–कुछ—'नाम' से लेकर 'आशा' तक—प्राण के सहारे चल रहा है। यहाँ 'प्राण' का अर्थ श्वासोच्छ्वास–क्रिया को ही नहीं मानना चाहिए—यह केवल उसका स्थूल रूप, सीमित रूप, व्यक्तिगत रूप है। सूक्ष्म रूप में यह 'प्राण' असीम है, विराट है, सर्वत्र मौजूद है। भिन्न–भिन्न प्राणी उसको अपनी–अपनी क्षमतानुसार, योग्यतानुसार लेकर प्रदर्शित करते हैं। पत्थर में प्राण 'जड़' है—आप शंका उठा सकते हैं कि 'प्राण' और 'जड़ता' दोनों साथ–साथ कैसे हो सकते हैं? यदि ब्रह्म सर्वत्र है, सब में विद्यमान है (**ईशावास्यं इदं सर्वम्**) तो पत्थर में क्यों नहीं? जड़ में भी प्राण अवश्य है, पर वह क्रियाशील नहीं है। वनस्पति–जगत में 'प्राण' केवल एक ही दिशा में बढ़ता दिखाई देता है। कीट–पतंग, पशु–पक्षी, इधर–उधर घूम–फिर भी सकते हैं, मानव गंभीरतापूर्वक चिन्तन–मनन कर सकता है, मूल प्रवृत्तियों के साथ–साथ रचनात्मक कार्य कर सकता है, उपनिषदों जैसे ग्रंथों का अध्ययन कर परमानन्द प्राप्त कर सकता है; क्योंकि प्राण, जीवन का एक विराट रूप भी है। यदि आप किसी को चोट पहुँचाते हैं, कष्ट या दुःख देते हैं तो आप अपने–आपको ही कष्ट दे रहे हैं—यह नितान्त सत्य है।

जब **महर्षि नारद** ने सत्य के बारे में पूछा तो **सनत्कुमार जी** ने कहा कि सत्य वही बोलता है जिसे ज्ञान होता है, जो सम्यक्तया जान लेता है—**यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति** (VII–17–1)। यहाँ सत्य का आशय सम्भवतः 'सत्' से है क्योंकि **भगवान् सनत्कुमार जी** 'नाम' से लेकर 'वाणी', 'मन', 'संकल्प' आदि सभी शब्दों का प्रत्यक्ष, चालू अर्थ न लेकर उसके आन्तरिक, सूक्ष्म अर्थ की ओर संकेत करते आए हैं। सत्य कोई भी बोल सकता है। पाण्डव–बालकों को जब सत्य बोलने का पाठ पढ़ाया गया तो अन्य विद्यार्थियों ने एक–दो दिन में ही पाठ याद कर लिया, पर युधिष्ठिर ने और समय माँगा। कई दिन बाद गुरु रुष्ट हुए तो उसने कहा : 'गुरुदेव, मैं अब भी कभी–कभी झूठ बोल देता हूँ।' यह अन्तर होता है जानने और जीने में। सत्य तो कोई भी कुछ अभ्यास, परिश्रम के बाद बोल सकता है, पर केवल 'ज्ञानी' ही सत्य बोल सकता है—इस कथन का यही आशय है कि वह 'सत्' की बात कर रहे हैं।

आनन्द कहाँ है—ऐसे 'सत्' में रमण करने के लिए 'मति', 'श्रद्धा', 'निष्ठा' और 'कृति-भाव' आवश्यक है, तभी 'भूमा' की, 'आनन्द' की, प्राप्ति हो सकती है। इस उपनिषद् में पहली बार 'ब्रह्म' को, 'सत्' को, 'भूमा' नाम से पुकारा गया है और इस बात पर बल दिया गया है कि बिना 'भूमा' को जाने, आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। 'भूमा' का अर्थ है असीम, अनन्त, निरतिशय, महान्—**यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति** (VII-23-1), यह जो असीम है, अनन्त है, महान् है, वह सुख देनेवाला है, सुख दे सकता है; ससीम, छोटा, परिमित, क्षुद्र है, उसमें सुख कहाँ? यहाँ सुख और आनन्द को एक ही अर्थ में लिया गया है, पर्याय माना गया है—**भूमैव सुखम्, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति**—हे नारद, असीम को, भूमा को ही तुझे सुखमय, आनन्दमय जानना चाहिए।

जैसे गीता में सत्यासत्य की पहचान को विश्वसनीय कसौटी दे दी है—**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** (II-16), उसी तरह भगवान् **सनत्कुमार** ने आनन्द को परखने की यहाँ अचूक कसौटी दे दी है। आनन्द, जो असीम है, अनन्त है, आकर फिर कभी जाता नहीं, केवल 'भूमा' में है, अन्य कहीं नहीं। क्या जगत की विषय-भोग की वस्तुएँ असीम हैं, अमर हैं? क्या जो सुन्दरता हम देखते हैं, संगीत जो हम सुनते हैं, स्वाद जो हमें सुख देता है, सुगंध जो हमें अच्छी लगती है, सदा रहेगी? सदैव सुख देगी? इनका दिया हुआ सुख आता है, जाता है, थोड़े समय के लिए है और मात्रा में भी थोड़ा है। जैसा एक अंग्रेज कवि ने कहा है कि हमारे बड़े से बड़े सुख में, अदृश्य दुःख का भय छुपा रहता है। जो थोड़ा-बहुत सुख हमें मिलता भी है वह इसलिए कि इन ससीम, क्षणिक वस्तुओं में भी असीम का अंश निहित है। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि सुख बाहर है ही नहीं, हमारे अन्दर ही है और हम उसी की छाया को देखकर सुखी होते हैं। इसी तरह हमारे मन में भी आनन्द नहीं है, वह सदा इधर-उधर दौड़ता रहता है और हमें विक्षिप्त अवस्था में रखता है। जब मन मौन हो जाता है तभी हम 'सत्' का दर्शन कर पाते हैं और आनन्द अनुभव करते हैं।

इस तरह **भगवान् सनत्कुमार** महर्षि नारद को भौतिक एवं मानसिक स्तर से लेते हुए आत्मिक स्तर पर ले गए। उनको यह ज्ञान करा दिया कि आप वेद, शास्त्र आदि का कितना ही 'शाब्दिक' ज्ञान प्राप्त कर लें, जब तक आप इन सीढ़ियों को क्रमशः पार करते हुए 'भूमा' को, असीम, अनन्त, अमर तत्त्व को, नहीं अनुभव करेंगे, आपको आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी, आपकी अशांति दूर नहीं होगी।

1. प्राकृतिक सम्पदा का सदुपयोग

भगवान् सनत्कुमार ने **महर्षि नारद** को विस्तारपूर्वक बताया कि 'भूमा' का, ब्रह्म का, अनुभव करने से ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। भूमा असीम, अनन्त, अमर है, सर्वत्र व्याप्त है। यदि अस्थायी वस्तुओं में आनन्द की खोज करेंगे तो चलता-फिरता सुख ही मिलेगा। स्थायी आनन्द तो तभी हाथ आएगा जब हम अपनी जीवन-नौका को किसी अजर-अमर डोर के साथ बाँधेंगे। उन्होंने नारद को यह भी उपदेश दिया कि पग-पग आगे बढ़ने में ही बुद्धिमानी है, छलाँग लगाना साधारण लोगों के लिए हितकर नहीं होगा। अपने चिर-परिचित नाम-रूप के सहारे आरम्भ करें, फिर क्रमशः वाणी-मन-संकल्प-चित्त-ध्यान-विज्ञान-बल-अन्न-जल-तेज-आकाश-स्मृति-आशा-प्राण आदि सीढ़ियों को चढ़ते हुए सत्, भूमा, और आनन्द तक पहुँचें। साधारणतया यही मार्ग उचित है, पर असाधारण महानुभाव अपने पिछले जन्मों के साधन, पुण्य के कारण छोटा मार्ग भी अपना सकते है—हमारी ऐसी मान्यता है। एक और बात उन्होंने बताई—केवल शाब्दिक ज्ञान से विशेष लाभ होनेवाला नहीं है, आत्मिक अनुभव आवश्यक है। मुमुक्षुओं के लिए **छान्दोग्योपनिषद्** का यह प्रसंग अत्यन्त लाभदायक है।

ईशावास्योपनिषद् में आत्मज्ञान को बडे अनूठे ढंग से समझाया गया है। यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद-संहिता का भाग है और आकार में बहुत छोटा है। इसमें केवल अठारह मंत्र हैं। इसके पहले मंत्र के पहले शब्द—**ईशावास्यमिदम्**—से ही इसका नामकरण हुआ है। यह मंत्र जैसे इस उपनिषद् की जान है। मंत्र इस प्रकार है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् 'यह सब ईश्वर से व्याप्त है, जो कुछ कार्यरूपा प्रकृति में गतिमान् है वह उसी के कारण है, उसी का है। जो कुछ उसने दिया है उसे त्यागभाव रखते हुए भोग करो, लालच मत करो किसी के धन का, यह धन किसका है।' **'ईशावास्यम्'** के दो अर्थ हो सकते हैं—ईश+आवास्य, और ईशा+वास्यम्। पहले का अर्थ है ईश्वर से सब-कुछ ढका हुआ है, वह सब जगह, सर्वत्र विद्यमान है। दूसरे का, जो ईश्वर के रहने योग्य है, जहाँ ईश्वर रहता है। **'इदं'** का अर्थ है—यह सब जो भी सृष्टि हमारे समक्ष फैली हुई है, जो भी दिखाई देता है अथवा नही दिखाई देता, जो स्थूल है या सूक्ष्म, जो कारण है या कार्य, अर्थात् यथार्थ में सब-कुछ। क्या वह ऐसे मौजूद है जैसे जल में नमक, अथवा भीगे कपड़े में जल ? क्या उसने सृष्टि को ऐसे ढाँप रखा है जैसे हम कपड़े से किसी वस्तु को ढॅक लेते हैं ? कुम्हार एक घड़ा बनाता है, कुम्हार निमित्त कारण है, घट या उसकी मिट्टी उपादान कारण। क्या ईश्वर निमित्त या उपादान कारण है ? वस्तुत· वह दोनों है—वह मिट्टी है, घट है और कुम्हार भी। 'जगत्' का अर्थ है गतिमान्। सृष्टि का सभी कुछ गतिमान् है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, मानव—सब प्रतिपल परिवर्तित हो रहे हैं। जो सत्ता संसार में नहीं बदलती, नित्य है, कूटस्थ है, वह ईश्वर है जो सब को गति देता है और एक-एक अणु में बसा हुआ है।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः—जो कुछ उस परमपिता परमात्मा ने दिया है, उसका भोग कर। सब-कुछ उसका दिया हुआ है, तेरा तो कुछ है नही। तू तो जो कुछ उसका है, उसका रखवाला है, न्यासी है—यह समझते हुए उसको भोग। इस धारणा को दृढ़ कर, कुछ भी अपना मत मान, उस पर—किसी वस्तु पर—अपना अधिकार न समझ, सुखी रहेगा। जितना तू इस प्रकार त्याग-भावना को अपनाएगा, उतना ही तुझे आनन्द अनुभव होगा। जब हम ईश्वर-प्रदत्त वस्तुओ को अपना मान बैठते हैं, तब उनके साथ राग उत्पन्न हो जाता है, उनके बिछडने पर दुःख होता है, मिलने पर सुख—दोनों ही भावनाएँ भ्रान्तिपूर्ण हैं, ग़लत हैं। **'मा गृधः'** लालसा मत कर! जो वस्तु तेरी नहीं है, किसी दूसरे की है, ईश्वर की है, उसका लालच न कर। इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि जो कुछ—बाड़ी-गाड़ी, धन-दौलत, माता-पिता, स्त्री-सन्तान—तुझे भगवान् ने दिया है, उसमें संतोष कर किसी दूसरे का वैभव-ऐश्वर्य देखकर उसकी कामना न कर।

एक बात स्पष्ट कर दें—'जो कुछ भगवान् ने दिया है'—इसका अर्थ यह नहीं है कि आप हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहें और भगवान् की कृपा की प्रतीक्षा करते रहें। प्रत्येक को अपनी-अपनी योग्यतानुसार कर्म करके धर्म के दस लक्षणों के आधार पर धनोपार्जन करना अभीष्ट है धार्मिक है साथ ही निरन्तर अपनी

योग्यता को बढ़ाते रहें और जो गृहस्थाश्रम में हैं उन्हें अपने कर्तव्य का यथासम्भव पालन करना चाहिए। जिस तरह दूसरे के धन की लालसा करना अनुचित है, उसी तरह दूसरों के धन पर—चाहे वह निकट सम्बंधियों का ही क्यों न हो—जीवन-निर्वाह करना अवांछनीय है। जो आप अपनी योग्यता से अर्जित करते हैं, उसे भी भगवान् का प्रसाद मानकर उसका मोह करना, उसके प्रसाद को अपना समझना, अहंभाव उत्पन्न करेगा, और आनन्द की प्राप्ति के लिए अहं का त्याग, आज नहीं तो कल, करना ही पड़ेगा।

कस्यस्वित् धनम्—यह धन किसका है? यह सृष्टि के समस्त साधन किसके हैं? ईश्वर के। आज के भौतिकवाद-प्रधान युग में, सारा संसार—विशेषकर सम्पन्न देश—प्राकृतिक सम्पदा की लूट-खसोट में जी-जान से जुटे हुए हैं! जिन लोगों के लिए उपनिषद् का यह उपदेश है, वे इसे सुनने को कहाँ तैयार हैं! उनकी खुल्लमखुल्ला डकैती के दुष्परिणाम अभी भी दिखाई देने लगे हैं, पर ऐसा लगता है कि जब वे चेतेंगे, पानी सिर से ऊपर जा चुका होगा। बड़े नगरों के प्रदूषण का यह हाल है कि जनता मुख पर नक़ाब लगाकर सड़कों पर निकलती है। बढ़ते हुए कल-कारखानों, बसों और गाड़ियों से जो दूषित गैसें निकलती हैं उनसे वायुमण्डल की 'ओज़ोन' परत को क्षति पहुँच रही है और पराबैगनी विकिरण से केवल अमरीका में 1982 और 1989 के अन्तराल मे त्वचा-कैन्सर 80 प्रतिशत बढ़ गया था। जल दूषित होने से जल के जीव-जन्तुओं का ह्रास हो रहा है। वनों की कटाई से जलवायु पर कुप्रभाव पड़ रहा है और कितनी ही पशु-पक्षियों की प्रजातियाँ लोप होती जा रही हैं जिस कारण जीव-सन्तुलन बिगड रहा है। भारत के उपनिषद् ही नहीं, भगवान् महावीर और बुद्ध ने बार-बार इस बात पर बल दिया है कि अपनी इच्छाओं को कम करने में ही आनन्द है क्योंकि उनकी तुष्टि असम्भव है। अब तो पश्चिम के **एरिक फ्रॉम** और **शूमेकर** जैसे मनीषी भी प्रकृति का अन्धाधुन्ध शोषण न करने की चेतावनी दे रहे हैं, पर कौन सुनता है नक्कारखाने में तूती की आवाज़!

उपनिषत्कार इस मंत्र में यही तथ्य समझाते है, इसी बात पर बल देते हैं कि ईश्वर-प्रदत्त प्राकृतिक सम्पदा, तथा नैतिकता से अर्जित अपने धन-वैभव का त्यागबुद्धि से भोग करो, निःसंग और निर्लिप्त भाव से कर्म करो, तभी चिरानन्द की प्राप्ति हो सकेगी। क्षणिक सुख के पीछे मत भागो! दूरदर्शिता से काम लो। मानव को तो भगवान् ने बुद्धि-विवेक का उपहार दिया है, उसका सदुपयोग करो। संसार की समस्त सम्पदा एकमात्र उसकी है; उसको अपना समझना तो चोरी करने के समान है। जो अपने पास है उसे भी अपना समझना चोरी है तो जो दूसरे

का धन है, उसकी ओर लालायित होना तो दोहरी चोरी कही जाएगी। समय रहते चेत जाइए, अन्यथा इस चोरी का दण्ड अवश्य मिलेगा, और मिल भी रहा है, पर हमारी आँखें नहीं खुलतीं। यह मंत्र मानव-जाति का ध्यान इस अटल सत्य की ओर आकृष्ट करने का प्रयास कर रहा है।

इस मंत्र में तीन बातों को समझाया गया—1. ईश्वर-जीव-जगत का पारस्परिक सम्बंध, 2. जीव और जगत का सम्बंध, और 3. जीव के जगत तथा ईश्वर के प्रति उत्तरदायित्व। यह सृष्टि ईश्वर से ओतप्रोत है, वह उसका निमित्त कारण है और उपादान कारण भी। हम पहले भी समझ चुके हैं कि सबसे पहले 'सत्' था और जो कुछ हम देखते हैं, या नहीं देखते हैं, सब-कुछ उसी 'सत्' तत्त्व से निकला है, जीव और जगत दोनों उसी सत्ता के स्वरूप हैं। पहले तो हमें इन दोनों को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानकर चलना चाहिए, फिर उसके साथ तद्‌रूपता की भावना दृढ़ करने का प्रयास करना चाहिए। जीव और जगत का वही सम्बंध है जो एक न्यासी का किसी न्यास के साथ होता है। जगत ने हमें जो कुछ दिया है, हम उसे ईश्वर की धरोहर समझकर देखभाल करें। कठिनाइयाँ तभी आरम्भ हो जाती हैं जब हम दूसरे की सम्पदा को—धन-दौलत, स्त्री-पुरुष-सन्तान को—अपना समझने लगते हैं—अमानत में ख़यानत करने लगते हैं। यदि हम न्यासित भावना से अपना काम चलाएँ तो बहुत-सी अनावश्यक कठिनाइयों से सहज ही बच सकते हैं। इसी के साथ जीव का जगत तथा ईश्वर के साथ सम्बंध जुड़ा हुआ है। सीधी बात है, सब-कुछ ईश्वर का है, जगत और हम भी ईश्वर के हैं, हम सब-कुछ ईश्वर का मानकर, न्यासी बनकर उसका उपभोग करें।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को **ईशावास्योपनिषद्** का यह पहला मंत्र अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने तो यहाँ तक कहा था कि यदि किसी दुर्घटनावश भारत के वेद-शास्त्र आदि नष्ट हो जाएँ और केवल यह मंत्र रह जाए तो हमें स्वस्थ, सुखी जीवन-यापन करने के लिए पर्याप्त है। इस एक मंत्र मे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को सफलता से निभाने की सम्पूर्ण व्यवस्था एवं आदेश निहित है।

2. लालन-पालन की त्रुटियाँ

सारी सृष्टि में ईश्वर छाया हुआ है। सब-कुछ उसका है। हम भी उसी के हैं और जगत में उसके प्रतिनिधि के रूप में सारे काम कर रहे हैं हमारे कर्तव्य

कर्म उसकी पुण्यवेदी पर भेंट के समान हैं और उनका फल जैसे उसका प्रसाद है। हम स्वयं अपनी ओर से कुछ नहीं कर रहे, कर सकते नही, और जो कुछ हमें मिलता है उसे सहर्ष शिरोधार्य करें—कितने सुन्दर विचार हैं। विचार ही नहीं, वास्तविकता भी यही है। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर वैसा ही आचरण करें तो सहज ही सुखी रहेंगे और आज नहीं तो कल, परमानन्द के भागी बनेंगे। कितनी सीधी-सादी बात है, कितना सरल उपाय! यदि हम किसी अन्य सत्ता की ओर से काम कर रहे हैं तो उस कार्य में लिप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता, उस कर्म का लेप हमारे ऊपर चढ़ेगा ही नहीं। तब हम 'नर' कहलाने योग्य बनेंगे। 'नर' शब्द 'न' और 'र' से बना है जिसका अर्थ है 'न रमण करनेवाला'। न रमने वाला ही 'नर' कहलाता है—**न कर्म लिप्यते नरे** (2)। जो निष्काम कर्म करता है, वही नर है।

ईशावास्योपनिषद् में कर्म के मर्म की बड़ी सटीक और संक्षिप्त व्याख्या की गई है। दूसरा मंत्र इस प्रकार है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात्, इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा कर। इस प्रकार किया हुआ कर्म नर में आसक्ति उत्पन्न नही करता। 'इस प्रकार किया हुआ कर्म' का संकेत पिछले मंत्र में दिया गया है—सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है, यह जानकर कर्म कर। जब सब जगह ईश्वर है, सब-कुछ उसी का है, तेरा कुछ भी नहीं तो जो कर्म तू करेगा उसमें अहं का लेप तो हो नहीं सकता, इसलिए वह कर्म निष्काम ही होगा और ऐसा कर्म करने से शतायु होगा, सब बंधनों से मुक्त रहेगा। ध्यान से देखें तो प्रकृति के सारे काम अनासक्त होते हैं, कर्त्तव्य समझकर कर्म होते हैं, कर्म तो करना ही है, बिना कर्म किए कोई भी जीव-जन्तु नहीं रहता।

आप अपने शरीर की कोशिका को लीजिए—राई के दाने जैसी छोटी-छोटी असंख्य कोशिकाएँ निरन्तर व्यस्त रहती हैं, एक क्षण विश्राम नहीं लेतीं। कई प्रकार की कोशिकाएँ हैं—ज्ञानेन्द्रियों की कोशिकाएँ, यकृत, गुरदे, फुफ्फुस आदि की कोशिकाएँ, जिसका जो काम है, कर्तव्य है, नियमित रूप से करती रहती हैं—कोई रक्त बनाती हैं, अन्य उसको शुद्ध करती हैं, वायु का आदान-प्रदान करती हैं, भोजन पचाती है इत्यादि। कोशिकाओं के अनेक वर्ग हैं। सब वर्ग आपस में मिल-जुलकर, बड़े समन्वय, सामंजस्य से एक-दूसरी की सहायता करते हुए सारे शरीर का लालन-पालन करती है उसको स्वस्थ रखती हैं, कोई

मन–मुटाव नहीं, कोई लेप नहीं, एकदम अनासक्त। प्रत्येक मानव, जीवधारी, इस विशाल जगत में एक-एक कोशिका के समान है, सबका लक्ष्य, ईश्वर से अनुप्राणित, इस जगत को सुचारु रूप से, नियमबद्ध चलाना है। पर नहीं, कोई कहता है मैं काला हूँ, कोई गोरा, कोई साँवला, कोई पीला, प्रत्येक अपने निजी हित की भावना से ग्रस्त हैं। कुछ तो मानते हैं कि जियो और जीने दो, पर कुछ अन्य कहते हैं—हमको 'जीना है, तुम मरो या जियो', और उनका अपने स्वार्थ के लिए शोषण करते हैं। कोशिकाएँ तो नहीं कहतीं, 'हम गुरदे की है, या यकृत अथवा हृदय की।' काश। इनसे हम कुछ सीख लेते।

कारण क्या है? इस मनोवृत्ति का मूल कारण जानकर आपको अच्छा नही लगेगा, शायद आप रुष्ट हो जाएँ, या उसको स्वीकार भी न करें। मूल कारण यह है कि हम सब—कम से कम 98 प्रतिशत—नास्तिक हैं, ईश्वर को मानते नहीं। इनमें से कुछ तो वे व्यक्ति हैं जो स्पष्ट कहते हैं कि वे ईश्वर को नहीं मानते। ठीक है, यह उनकी मान्यता है, और प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत निर्धारित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, हमारा उनसे कोई झगड़ा नहीं है। अधिकांश लोग ऐसे हैं जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है, पूजा–पाठ करते है, नामजप करते है, सारे कर्मकाण्ड को नियमित रूप से निभाते हैं, पर उनके आचरण में ईश्वर का अस्तित्व परिलक्षित नहीं होता। प्रातः दीप–धूप जलाई, माला फेरी, आरती की और उसके बाद तुरन्त अपनी दिनचर्या में पूर्ववत् लग गए जिसमें छल–कपट, काम–क्रोध–लोभ–मोह आदि सब सम्मिलित हैं। एक कहानी याद आती है। गुरुजी ने अपने पाँच शिष्यों को ईश्वर की सर्वव्यापकता को कई दिन तक तरह–तरह से समझाया। फिर एक दिन पाँचों शिष्यो को एक–एक कपोत और चाकू दिया और आदेश दिया—इसको ऐसी जगह मारकर लाओ जहाँ कोई भी न हो। पाँचों वन में चले गए। कुछ देर बाद चार तो कबूतर का गला काटकर ले आए, पर पाँचवाँ नहीं लौटा। बहुत देर बाद वह डरते–डरते जीवित कपोत लेकर लौट आया। गुरु ने उसको आदेश का पालन न करने पर रोष प्रकट किया। शिष्य ने उत्तर दिया : 'गुरुदेव, जहाँ–जहाँ मैं गया, वहाँ मैं तो उपस्थित था ही, साथ ही भगवान् भी मौजूद था और सब-कुछ देख रहा था। क्षमा करें, मुझे कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ कोई भी न हो, इसलिए मैं कपोत को मारने में असफल रहा।' गुरु ने उसको गले लगा लिया। यदि ईश्वर सर्वत्र है, और सब–कुछ उसी का है, सब–कुछ वही है, हमारा कुछ भी नहीं है तो हम सकाम कर्म कैसे कर सकते हैं? कर ही नहीं सकते।

गीता में कर्म-सिद्धान्त की जगह–जगह पर विशद व्याख्या की गई है।

पहले अर्जुन को यह समझाकर कि 'वह शरीर नहीं है, मन नहीं है, आत्मा है, ईश्वर-तत्त्व है', भगवान् कृष्ण दूसरे अध्याय के 42वें श्लोक से कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। आगे वह कहते हैं : हे अर्जुन, तू अपने सम्पूर्ण कर्मों को मुझ अन्तर्यामी ईश्वर को अर्पण कर, आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर शुद्ध कर्म कर (III 30), ऐसे श्रद्धायुक्त कर्ता समस्त कर्मों से छूट जाते है (III.31)। अन्यत्र वह कहते हैं कि जो व्यक्ति समस्त कर्म मुझ भगवान् को अर्पित करता है वह सारे कर्म-बन्धनों मे मुक्त होकर, मुझको ही प्राप्त होता है (IX-27, 28)। इसी तथ्य को दूसरे ढंग से बताते हुए वह फिर परामर्श देते हैं कि मुझ ईश्वर में मन को लगा, और मुझमें ही बुद्धि को, फिर तू जो कुछ करेगा तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है (XII-7)। सारांश यह है क्योंकि **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** इसलिए हमको सारे कर्म सदा ईश्वर के निमित्त, ईश्वर को अर्पित करने चाहिएँ, इस तरह अनासक्त भाव से कर्म करने से हम कर्मबंधन से मुक्त हो जाएँगे।

बात बहुत साधारण है। 'ग़ालिब' ने कहा है—**दुशवार तो यही है कि दुशवार भी नहीं**—इतनी आसान है। पर हमारे शरीर के उन्नीस 'मुखों' ने इसे जीवन में आचरित करना कठिन बना दिया है—एक नही, उन्नीस 'मुख'। और ये मुख, विशेषकर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर की ओर, अपने-अपने विषयों की दिशा में भागती रहती है। ये इन्द्रियाँ पाँच उद्दण्ड घोड़ो के समान हैं जिनकी रास मन के हाथ में है, और मन को बस में रखना तो वेगवान पवन को बाँधने-तुल्य है। दोनों में अच्छा तालमेल है। यदि आँखें रूप निहारना चाहती हैं तो मन उनका साथ ही नहीं देता, उनको और भी उत्तेजित करता है और हम भटक जाते हैं, विषयासक्ति की दलदल में फँस जाते हैं, ईश्वर का ध्यान किसे आता है? जाग्रतावस्था में यह 'मुख' हमको स्थूल-जगत में, स्थूल रूप में विक्षिप्त करते रहते हैं और स्वप्नावस्था में सूक्ष्म रूप से भोग द्वारा। **ईशावास्यम्** के स्थान पर यह सारा जगत इन्द्रियाँ-वास्यम् बन जाता है और हम उनके विषयों के पीछे दौड-दौड़ क्षणिक सुख-दु:ख के सागर में डुबकी लगाते रहते हैं।

यदि हमारी शरीर में आसक्ति है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है और हमारा इन्द्रियो के विषयों की ओर दौड़ना भी स्वाभाविक ही है। जब शिशु जन्म लेता है, उसके माता-पिता तथा अभिभावक रंग-बिरगे, बजनेवाले, चलते-फिरते खिलौनों द्वारा उसका मन बहलाते हैं। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है उसके आकर्षण-केन्द्रों में परिवर्तन होता जाता है—पहले खेल-कूद की सामग्री, फिर पुस्तकें सहपाठी और युवा होने पर दूसरे लिंग की ओर सहज झुकाव। इन्हीं दिनों

अधिकांश परिवारों में उसकी कुलदेवता से पहचान करा दी जाती है। किसी-किसी भवन में एक उपासना-कक्ष भी होता है जहाँ अनेक देवी-देवताओं के सामने धूप-दीप जलाए जाते हैं, या कहीं-कहीं हवन, अग्निहोत्र आदि होते हैं। इन सबसे कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि भगवान्, ईश्वर, अल्लाह आदि, हमसे विलग, कहीं दूर एक महान् सत्ता है जिसकी उपासना करना अच्छी बात है, उससे जब हम जो माँगेंगे वह मिलना सहज हो जाएगा। वह सबका दाता है। हम सबका अधिकतर कुछ ऐसे ही वातावरण में लालन-पालन होता है। हम शरीर नहीं हैं, मन नहीं हैं, आत्मा हैं—यह बात तो शायद हमारे कानों में जब हम गृहस्थाश्रम के झंझटों से निकल रहे होते हैं, तब कुछ-कुछ पड़ने लगती है। इसके पूर्व, केवल एक नगण्य संख्या का इस तथ्य से परिचय होता है।

जैसा हम जीवन-भर जानते रहे हैं, जीते रहे हैं, वैसा ही तो आगे जीएँगे। कुछ भाग्यवानों को छोड़, शेष लोगों के सारे जीवन में यही संस्कार बनते आए हैं। इतने वर्षों की आदत के उन संस्कारों को आमूल उखाड़ फेंकना साधारण बात तो है नहीं। बहुत परिश्रम करना पड़ेगा, और समय लगेगा। सुबह का भूला यदि शाम को घर आ जाए तो भी बहुत है, और किन्हीं पाठकों के लिए तो सम्भवतः संध्या भी बीतकर रात हो गई हो, कोई हानि नहीं है, जब भी चेतो तभी सवेरा। यहाँ हम एक सुझाव अवश्य देना चाहेंगे—अभिभावकों को जितना शीघ्र हो सके अपने बच्चों में सच्चे आनन्द, सत् की खोज का बीज डाल देना चाहिए। जब वे युवा हों तो उनको संत-महात्माओं एवं दार्शनिकों के विचारों से इस प्रकार अवगत कराएँ कि उनको रस आने लगे, रुचि उत्पन्न हो जाए और फिर वे स्वयं स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द जी, उपनिषद्, बाइबिल, कुरआन, जपुजी साहब आदि का अध्ययन करेंगे। अन्य देशों के विद्वानों के विचारों से भी जानकारी प्राप्त करें जिससे वे एक संतुलित तथा बहुआयामी दृष्टिकोण प्राप्त कर सकें और उनको जो उचित एवं सर्वश्रेष्ठ मत लगे उसको अपनाएँ। मानव-जीवन का यही तो लाभ है कि इस योनि में प्रत्येक व्यक्ति जितनी चाहे जानकारी प्राप्त कर सकता है, चिन्तन-मनन कर अपना लक्ष्य निर्धारित कर, उसको प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता है।

जिन लोगों का ऊपर बताए गए वातावरण में लालन-पालन हुआ है, जिनको जन्म से ही भौतिकवाद के ढाँचे में ढाला गया है, जिन्होंने केवल परिपक्व अवस्था में 'आत्मा' का नाम सुना है और आत्मज्ञान की रुचि दिखाई है, उन्हें अचानक कहना कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा ही है जैसे छठी कक्षा के विद्यार्थी को एम० ए० के स्तर के किसी प्रश्न को समझने को कहा जाए। यदि आपने अभी

तक इस तथ्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया है तो आज ऐसा कथन कैसे गले उतरेगा! **भगवान् सनत्कुमार** ने देवर्षि नारद से कहा था कि तेरा यह सारा ज्ञान, वेद-शास्त्र का अध्ययन केवल शाब्दिक ज्ञान है, आत्मिक नहीं, इसीलिए तुझे आनन्द की, शांति की प्राप्ति नहीं हुई। और इस बात पर भी बल दिया कि पग-पग आगे बढ़, पहले एक कक्षा में उत्तीर्ण हो, उसके सिद्धान्त को भलीभाँति जान ले, तब दूसरी कक्षा में जाने की आकांक्षा कर, छलाँग मत लगा। क्योंकि उनको सारा संसार नाम-रूपात्मक ही लगता था, इसलिए गुरु ने उनसे कहा : "तू नाम को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना कर।" जब वे इस रहस्य को आत्मसात् कर लें, तभी 'वाणी', 'मन', 'संकल्प' आदि को जानने का प्रयत्न करें।

आप आसपास से, अपने ही घर से आरंभ करें। आप केवल एकमात्र अपनी सुविधा को न देखते हुए, अपने माता-पिता, बेटा-बेटी, भाई-बहन, पति-पत्नी की चिंता करें। "मैं इनका किस-किस तरह भला कर सकता हूँ, कैसे इनको सुखी बना सकता हूँ"—आपकी यह उत्कण्ठा होनी चाहिए। अधिकांश परिवारों में ऐसा ही होता है, इसलिए ऐसा करने में आपको कोई कठिनाई नहीं होगी—यह पहली कक्षा है। साथ ही यदि आप यह भी ध्यान रखें कि जो आप उनके लिए कर रहे हैं, उसके बदले, उनसे तो कोई आशा नहीं कर रहे? ऐसा करना सोने पर सुहागे का काम करेगा। साथ ही यदि आप यह धारणा दृढ़ करते रहें कि आप स्वयं, और ये सब सम्बन्धी, एक विराट सत्ता के अंग-प्रत्यग हैं, तो कहना ही क्या है—सोने पर सुहागे का काम हो जाएगा। आपके हाथ, पैर, आँख, कान, मन, बुद्धि आदि आपके शरीर के ही विभिन्न भाग हैं, और ये सब मिलकर ही आपका शरीर कहलाते हैं, इसी तरह व्यक्ति और विराट का सम्बंध है। दोनों अभिन्न हैं—यह वास्तविकता है। चिन्तन द्वारा इसको हृदयंगम करने की आवश्यकता है। जैसे-जैसे यह भाव बल पकड़ता जाएगा, ममता-मोह फीके पडते जाएँगे और कर्म 'निष्काम'। एक बार **स्वामी रामतीर्थ** की पत्नी ने उनसे शिकायत की : "तुम मेरी ओर कभी ध्यान ही नहीं देते, प्यार करना तो दूर!" रामतीर्थ ने उनको आलिंगन में लेते उत्तर दिया : "क्या मैं कभी अपनी ऑख की ओर ध्यान देता हूँ? यह विचार करता हूँ कि ये मेरे हाथ हैं, मेरे पैर? प्रिय, हम-तुम एक हैं, अलगाव है ही नहीं। सच मानो, मैं ग़लत नहीं कह रहा।"

फिर अपनी चेतना को और आगे बढ़ाइए, व्यापक रूप दीजिए। पड़ोसी को भी परिवार का ही अंग मानें, उसके सुख-दुःख में भागीदार बनें। उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा आप आशा करते हैं वे आपके साथ करेंगे। बाइबिल में इस पर बहुत बल दिया गया है। धीरे-धीरे अपने 'परिवार' को बढ़ाते जाएँ,

इसका विस्तार करते जाएँ। अपकी सेवा का क्षेत्र भी बढ़ता जाएगा—यह ईश्वर की सर्व-व्यापकता को स्वीकार करने का व्यावहारिक रूप है। इसका अभ्यास करते रहने से वैमनस्य स्वतः कम होता जाएगा; दया, दान, क्षमा जैसे गुणों को प्रोत्साहन मिलेगा और अनायास ही आत्मज्ञान की निसेनी पर क्रमशः चढ़ते ही जाएँगे। यदि आप दार्शनिक मत-मतान्तरों के चक्कर में न भी पड़ें और धीरे-धीरे, चुपके-चुपके अपने प्रेम एवं निष्काम सेवा-सहायता की परिधि का विस्तार करते रहें, तो भी आपको नैसर्गिक आनन्द अनुभव होगा। यह आत्मज्ञान का सीधा-सादा निष्कण्टक मार्ग है।

ईशावास्योपनिषद् के एक मंत्र में यहाँ तक कहा है कि जो केवल अपने लिए जीता है, स्वार्थी है, वह आत्मा का हनन करता है, आत्महत्या करता है; और जो दूसरों के लिए जीता है, अपने सुख-दुःख की चिन्ता किए बिना दूसरों की, 'विराट' की खोज में लगा रहता है, वही निष्काम कर्म करता हुआ, ईश्वर मे जीवनयापन करता है।
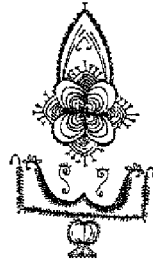
1. मोक्ष का साधन—समाज सेवा

हम ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के विभिन्न मार्गों की चर्चा करते रहे हैं, क्योंकि केवल ब्रह्मविद्या को जान लेने से, सारी विद्याएँ अनायास ही जानी जा सकती हैं, हमारी एक-दो नहीं, समस्त कामनाओ की पूर्ति हो सकती है, हम तीनों लोकों के स्वामी बनकर परमानन्द का अनुभव कर सकते हैं। इस विद्या को सीखने के लिए सबसे आसान साधन है उपनिषदों की शरण लेना। ये उपनिषद् हमारे मनीषियों ने अपने अनुभव के आधार पर रचे हैं और उनमें अत्यन्त गहन-गंभीर विषयों को बड़े सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत किया है। जैसे केवल मिट्टी या लकड़ी को जानने मात्र से हम मिट्टी तथा लकड़ी से निर्मित असंख्य वस्तुओं को सहज ही जान सकते हैं, उसी तरह 'सत्' तत्त्व से उत्पन्न सृष्टि केवल 'सत्' ही हो सकती है। इसी तत्त्व को कोई ईश्वर कहता है, कोई अल्लाह इत्यादि। वह ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, हमारे अन्दर भी है और बाहर भी। हमारे जीवन की जो तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—वह ईश्वर उन सारी अवस्थाओं का द्रष्टा है, देखनेवाला है। फिर भी हम उससे क्यों अनभिज्ञ रहते हैं, उसको अनुभव क्यो नहीं कर पाते हैं, इसका विवेचन भी किया जा चुका है।

कुछ उपनिषदों को छोड़कर—जैसे **मुण्डक**—अधिकांश में यही संकेत दिए गए हैं कि हम सब अपनी सांसारिक समस्याओं को सुलझाते हुए, अपने उत्तरदायित्वों को निभाते हुए भी आध्यात्मिक साधना को अच्छी तरह निभा सकते हैं। **भगवान् सनत्कुमार** ने महर्षि नारद को उपदेश देते हुए इस बात पर बल दिया है कि ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर पग-पग आगे बढ़ना चाहिए, जैसे कोई विद्यार्थी जब एक कक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, तभी दूसरी में जाता है; छलाँग लगाना उचित नहीं है। सारा जगत नाम-रूपमय है, इसलिए उन्होंने 'नाम' की साधना से ही आरम्भ करने का परामर्श दिया। **तैत्तिरीय उपनिषद्**, जिसकी अब हम चर्चा करने जा रहे हैं, वह भी 'शिक्षा' से ही आरम्भ होता है। यह अन्तर

अवश्य है कि आजकल की शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है धनोपार्जन, पर इसमें जिस शिक्षा की बात की गई है वह अन्ततोगत्वा 'सत्' की ओर, आनन्द की ओर ही ले जाएगी। समय बदल गया है, विचारधारा में आमूल परिवर्तन हो गया है, जीवन का लक्ष्य बदल गया है, पर उपनिषद् जो संदेश देते हैं वह देश-काल के बदलने से परिवर्तित नहीं होता, सार्वभौमिक है, शाश्वत है. अनादि-अनन्त है, और आज भी उतना ही सार्थक है, कल भी उतना ही महत्त्वपूर्ण रहेगा जितना उस युग मे था। उपनिषदों का मानव-जीवन के प्रति अत्यन्त स्वस्थ एवं सर्वांगी दृष्टिकोण रहा है; कभी नकारात्मक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए तो विश्व के दार्शनिक उनको उत्तमोत्तम साहित्य की श्रेणी में स्थान देते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद के **तैत्तिरीय आरण्यक** का भाग है। इसके तीन खण्ड हैं, प्रत्येक को वल्ली कहा गया है और मंत्रों को अनुवाक। ये तीन वल्लियाँ हैं—शिक्षा, ब्रह्मानन्द और भृगु। शिक्षाध्याय-वल्ली में जिन विषयों की बात कही गई है, उनको जानकर आपको आश्चर्य होगा। विषय-प्रवेश का उनका अन्दाज़ इतना विश्लेषणात्मक है कि श्रद्धा से उनके प्रति नतमस्तक हुए बिना नहीं रहा जा सकता। शिक्षा भाषा द्वारा दी जाती है, भाषा शब्दों से बनती है, शब्दों की उत्पत्ति वर्णों से—आ, इ, क, ख आदि—से होती है, वर्णों का ज्ञान अक्षरों के ज्ञान से होता है और स्वर-ज्ञान का अर्थ है ठीक-ठीक उच्चारण। वर्ण तथा स्वर के बाद 'मात्रा' का ज्ञान कराया जाता है। शब्द-ज्ञान में 'साम' अर्थात् समता, समन्वय होना चाहिए। शब्दों से वाक्य और वाक्यों से ग्रंथ बनते हैं जो वर्णों की 'सन्तान' कहे जा सकते हैं। जैसे माता-पिता के मेल से संतान होती है, वैसे ही वर्णों की 'संहिता' से शिक्षा अथवा 'ज्ञान' का उदय होता है। पाँच 'महा-संहिता' से उपनिषद्-ज्ञान प्राप्त होता है। **कठोपनिषद्** में यम ने भी नचिकेता को सन्धि में से गुज़रने का उपदेश दिया है।

पाँच महासन्धियों का विवेचन करते हुए बताते हैं—वर्णो में एक 'पूर्व' वर्ण होता है, एक 'उत्तर' वर्ण। इन वर्णो में अवकाश अर्थात् 'सन्धि' हो सकती है जिसको अक्षर से जोड़ दिया जाता है, जिसे 'सन्धान' कहते हैं। जैसे वर्णो की संहिता होती है, उसी तरह सृष्टि की संहिता को समझो—लोकों में पृथ्वी पूर्व-रूप है, 'द्यौ' उत्तर रूप, 'आकाश' सन्धि है, 'वायु' सन्धान है—पृथ्वी और द्यु को मिलानेवाला है, उनकी संहिता करनेवाला है। इस तरह इन महान् चिन्तकों ने 'वर्णों' और 'लोकों' के बीच तादात्म्य स्थापित करने का कितना सुन्दर प्रयत्न किया है! शिक्षा आरम्भ करने के पूर्व ही उन्होंने एक व्यापक दृष्टिकोण प्रतिपादित कर दिया।

शिक्षा प्राप्त करने में भी महासन्धियाँ हैं—विद्या का उद्गमस्थान 'आचार्य' है,

'**शिष्य**' उत्तर-रूप है, '**विद्या**' सन्धि है, '**प्रवचन**' जिसके द्वारा विद्या दी जाती है, सन्धान है। जैसे भिन्न-भिन्न वर्णों की सन्धि से अक्षर बनता है, वैसे ही आचार्य, शिष्य, विद्या तथा प्रवचन की महासन्धि से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है। हमारे शरीर में इसी प्रकार महासन्धियाँ हैं—'कर्मेन्द्रियाँ' पूर्व रूप हैं, 'ज्ञानेन्द्रियाँ' उत्तर रूप हैं, दोनों के बीच में '**वाणी**' सन्धि है और 'जिह्वा' सन्धान है। इन सबका समन्वय, इनकी महा-संहिता ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रही है। अब तो इने-गिने स्कूलों में प्रार्थना की जाती है, उस युग में, पग-पग पर प्रार्थना की जाती थी और प्रार्थना में कहा जाता था : हे प्रभु! आप मेरी मेधा को, बुद्धि को प्रखर बनाएँ जो मुझे अमरत्व की ओर ले जाए, मेरी वाणी से फूल झड़ें, मेरा शरीर बलवान् हो—**मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु, अमृतस्य देव धारणो भूयासम्, शरीरं मे विचर्षणम्, जिह्वा मे मधुमत्तमा**'''(I-4.1)। इसी प्रकार की और भी अनेक प्रार्थनाएँ की जाती थीं।

उन दिनों सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ **वेद** थे। **उपनिषद्** तो लिखे जा रहे थे, इसलिए बार-बार वेदों के अध्ययन पर बल दिया जाता था। अब तो भारत तथा विदेशों में अनेक विषयों पर कितने ही शोधपूर्ण ग्रथ, तथा उन पर टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं, इसलिए उनका अध्ययन भी आवश्यक है। जो विद्यार्थी जिस विषय में रुचि रखता हो, उसमें प्रवीणता प्राप्त कर सकता है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि विद्या-अध्ययन की जो सुविधा आज के युग में सुलभ है, वह कुछ हज़ार वर्ष पूर्व प्राप्त नहीं थी, और हमें इस सुविधा का, विभिन्न यंत्रों का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए। हमारे पूर्वजों का बड़ा व्यापक दृष्टिकोण था। वे ब्रह्मज्ञान पर अवश्य भरपूर ज़ोर देते थे, साथ ही भौतिक विषयों तथा सांसारिक जीवन को सफल बनाने की उपेक्षा नहीं करते थे। इसका थोड़ा-बहुत आभास हमें शिक्षा पूरी होने के पश्चात्, आचार्य के दीक्षान्त-भाषण से मिल सकता है।

वेद विद्या समाप्त करने के बाद, आचार्य अन्तेवासी को, शिष्य को अपने भाषण में आदेश देते हैं : **सदैव सत्य बोलना**। यहाँ झूठ न बोलने का केवल संकुचित अर्थ नहीं है, यह भी आशय है कि बात को तोड़-मरोड़कर मत कहना, पाखण्ड न करना, यदि सत्य बोलने से किसी की जान जाती हो तो चुप रहना ही श्रेष्ठ है। सत्य बोलो तो उसे मीठा बनाकर बोलो। दूसरी सीख है **धर्मं चर**—धर्म का, अपने कर्तव्य का, पालन करना, नियम से स्वाध्याय करना। आगे आदेश देते हैं—**प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः**—अपने वंश की डोर को काटना मत, अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद, किसी कुलीन सुकन्या से विवाह कर, अपने कुल को आगे बढ़ाना, अर्थात् विवाहसंस्कार काम-क्रीड़ा में डूबने के लिए नहीं है, अपितु समाज एवं वंश-परम्परा के प्रति एक उत्तरदायित्व है, अपने प्रत्येक कर्तव्य का,

शास्त्रीय संस्कारों का भलीभाँति निर्वाह करना। उनमें ऐश्वर्य-प्राप्ति तथा धनोपार्जन भी एक विशिष्ट स्थान रखते हैं—**भूत्यै न प्रमदितव्यम्**। **स्वामी दयानन्द सरस्वती** ने 'सत्यार्थप्रकाश' में 16 संस्कारों का उल्लेख किया है, उन सब का पालन करना अभीष्ट है। **स्वामी शिवानन्द जी** का कहना है कि अपने कर्तव्यों का पालन करने से पिछले जन्मों के कुसंस्कारों, पापों का क्षय होता है और ज्ञानोदय सुलभ हो जाता है। जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता, प्रत्येक साधक को, व्यक्ति को स्वधर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। **गीता** में भी अपने कर्तव्यों के पालन पर बहुत बल दिया गया है।

आचार्य अपने दीक्षान्त-भाषण में यह भी आदेश देते हैं कि अपनी माता को देवी तथा पिता को देवता समझकर उनकी सेवा करो तथा सभी गुरुओं का सदैव आदर करो। उनके कथन को ध्यान से सुनो। यदि कोई सन्देह हो तो शंकानिवारण कर लो; निरर्थक वाद-विवाद में मत पड़ो। अतिथियों का आदर-सत्कार करो और समाज में पिछड़े लोगों की जिस तरह, जो भी सहायता कर सको, अवश्य करो। जो कुछ दो, श्रद्धा से दो, अपनी श्री में से दो, श्री न बढ़ रही हो तो लोकलाज के कारण दो—**श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्**''''।

वैदिक धर्म पर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि यह स्वार्थी है, व्यष्टि-परक है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसको दूसरों की, सम्बन्धियों की, समाज की कोई चिन्ता नहीं होती—यह मत सर्वदा मिथ्या है। इस उपनिषद् की शिक्षाध्याय-वल्ली से—और विशेषकर आचार्यो के दीक्षान्त-भाषण से—यह सिद्ध हो जाता है कि माता-पिता की सेवा, गुरुजनों के आदर, सम्बन्धियों एवं समाज की सेवा पर निरन्तर बल दिया गया है। वस्तुतः अपने इन कर्तव्यों के पालन द्वारा ही मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने का साधन बताया गया है।

2. ब्रह्म की परिभाषा

कहा जाता है कि उपनिषद् ई०पू० 800 और ई०-पश्चात् 300 ई० के अन्तराल में लिखे गए हैं। इसमें कुछ मतभेद हो सकता है, पर यह निश्चित है कि **महात्मा महावीर** और उनके समकालीन **महात्मा बुद्ध** भी षड् दर्शनशास्त्रो के अतिरिक्त, कितने ही उपनिषदों से परिचित थे और उनका अध्ययन कर चुके थे। यों

तो सारे उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्मज्ञान तथा तत्सम्बन्धी विषय ही है, इसलिए कहीं-कहीं, कुछ तथ्यों की पुनरावृत्ति होना सम्भव है, पर प्रत्येक ऋषि ने अपने निजी अनुभव के आधार पर विषय को बड़े अनूठे, अपूर्व एवं नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। क्योंकि उन्होंने स्वयं आत्मसाक्षात्कार किया था, इसीलिए उनमें अत्यन्त गहन-गंभीर विषय को बड़े सुचारु एवं सुस्पष्ट रूप मे व्यक्त करने की क्षमता थी और हम धन्य हैं कि हमें तथा समस्त मानवजाति को यह परमज्ञान सहज ही उपलब्ध है। हम इस धरोहर से कितना लाभ उठाते हैं यह केवल पुरुषार्थ पर निर्भर है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द-वल्ली में मुख्य रूप से तीन विषयों की व्याख्या की गई है : ब्रह्म क्या है, उसने सृष्टि की रचना कैसे की, और हमारे शरीर के पाँच कोशों का वर्णन। साधक को ब्रह्म की ओर आकृष्ट करने के लिए, दूसरी वल्ली के पहले ही अनुवाक में यह प्रलोभन दिया जाता है कि ब्रह्म को जानने से तुम सब-कुछ जान जाओगे, तुम्हें अन्य सभी विद्याओं का ज्ञान हो जाएगा, तुम सब-कुछ प्राप्त कर लोगे, तुम्हारी सारी इच्छाओं की पूर्ति हो जाएगी। कौन नही चाहेगा कि वह सब-कुछ जान जाए, उसको सब-कुछ मिल जाए, उसकी सारी कामनाएँ साकार हो जाएँ। उसके बाद यही अनुवाक ब्रह्म की बड़ी सटीक, सार्थक एवं सुन्दर परिभाषा प्रस्तुत करता है। संसार के किसी भी साहित्य में ईश्वर की, ब्रह्म की, एक अद्वितीय सत्ता की, इतने कम शब्दों में इतनी अर्थपूर्ण परिभाषा नहीं दी गई है। कहते हैं—**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म.** ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त अथवा आनन्दस्वरूप है। यदि हम इन शब्दों के मर्म को भलीभाँति समझ ले तो कम से कम बुद्धि-स्तर पर उस सत्ता के विषय में हमें कोई भ्रान्ति नहीं रह जाएगी। यह अवश्य है कि वह केवल शाब्दिक अर्थ होगा, पर उसका भी एक स्थान है। इस परिभाषा का पहला शब्द है 'सत्यं'। सत्य क्या है ? क्या जैसा देखा, सुना, समझा, वैसा ही बोलना सत्य है या सत्य की सत्ता में और भी कुछ सम्मिलित है ? यह तो सत्य का केवल स्थूल रूप है, सीमित परिभाषा है। 'सत्' वह है जो कभी भी अपनी सत्ता से विचलित न हो, उसको न छोड़े, कभी परिवर्तित न हो, बदले नहीं, इस परिवर्तनशील जगत मे एकरस, निरन्तर, अपरिवर्तित रूप में विद्यमान रहे। यह लेखनी जिससे मैं इस कागज पर लिख रहा हूँ, पहले इस रूप में नहीं थे, कुछ समय बाद भी इस रूप में नहीं रहेंगे, बदल जाएँगे, तो ये दोनों सत्य नहीं हैं। इसी कसौटी पर अपनी अन्य वस्तुओं को भी परखना चाहिए—यह बाड़ी, गाड़ी, पति, पत्नी, पिता, पुत्र, धन-धान्य पहले इस अवस्था में नहीं थे, आगे भी ऐसे ही नहीं रहेंगे—ये सत्य नहीं हैं। ब्रह्म को खोजते-खोजते हम 'नेति-नेति' कहने लगते हैं—यह भी नहीं है, यह भी नहीं है। ये सत्य नहीं हैं इसलिए 'सत्यं' की परिभाषा पर खरे नहीं उतरते. अतः ब्रह्म नहीं हो सकते।

आपको याद होगा 'सत्' को समझाते हुए **छान्दोग्योपनिषद्** (VI.1.4) में **ऋषि उद्दालक** अपने पुत्र श्वेतकेतु को बताते हैं कि मिट्टी से बने हुए घड़े, गमले आदि मे केवल मिट्टी ही सत्य है।

ज्ञान का अर्थ है न केवल साधारण जानकारी अपितु निर्बाध, असीम प्रज्ञा। कृपया ध्यान दें : इस वस्तु या उस वस्तु, इस विषय या उस विषय की जानकारी नही, केवल चेतना जहाँ भिन्नता को कोई स्थान ही नही है, अलगाव की सम्भावना ही नहीं है—वे तो केवल विकारमात्र हैं। **ऐसी प्रज्ञा जिसमें आप अपने को तो जानते हैं पर अन्य कुछ भी नहीं पहचानते**। जो आप देखते हैं, सुनते हैं, जानते हैं वह अल्प है, सीमित है, परिवर्तनशील है, मरणधर्मा है, अभी है बाद में नहीं होगा। 'ज्ञान' अथवा असीम प्रज्ञा, वह शुद्ध अवस्था है जहाँ आत्मा किसी अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, जो जानता है, जो अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है जिसे **छान्दोग्योपनिषद्** में 'भूमा' कहा गया है (VII 24 1)। इसी 'चेतना' की चर्चा **माण्डूक्योपनिषद्** में की गई है—वह चेतना जो जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहती है, तीनों को द्रष्टा-भाव से देखती है। ऐसी चेतना से अभी तक हमारी जान-पहचान नहीं है, हमने शायद कभी इसका स्वाद नहीं लिया है। हो सकता है जैसे-जैसे हमारे विकार दूर हों, हमारा ध्यान परिपक्व हो, उसमें गहराई आ जाए, हम कुछ क्षणों के लिए इसका नैसर्गिक आनन्द ले सकें। यह कठिन अवश्य है, असम्भव नहीं।

जब तक कर्ता और कर्म, द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञान का भेद चलता रहेगा, 'अनन्त' का अनुभव सम्भव ही नहीं है। उपनिषद् की परिभाषा के अनुसार 'अनन्तम्' ब्रह्म का तीसरा गुण है। गंभीरता से विचार करें तो **सत्यम् ज्ञानमनन्तम्** अथवा **आनन्दम्** तीन अलग-अलग गुण नहीं हैं, तीनों एक ही बिन्दु पर मिलते हैं, तीनों का मिलता-जुलता, एक-दूसरे का पूरक अर्थ है। यदि हम एक को समझ लें तो तीनों अनायास ही समझ में आ जाएँगे—जो 'सत्यम' है वही 'ज्ञानम्' हो सकता है और उसी का विस्तार अनन्त, परम-आनन्द का देनेवाला हो सकता है। जो गतिमान् है, परिवर्तनशील है, आज कुछ है और कल कुछ, वह सत्य कैसे हो सकता है? पल-पल परिवर्तित होनेवाले इस जगत में यदि हम अपरिवर्तित तत्त्व नहीं पकड़ पाए तो ज्ञानोदय असम्भव है, और जब तक हमे द्वयात्मकता दिखाई देती है, यह और वह का आभास रहता है, 'अनन्तता' का रस आ ही नहीं सकता।

ऐसी वस्तुस्थिति में ब्रह्म को 'पाने' का, उस तक 'पहुँचने' का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म सर्वत्र है, हमारे अन्दर भी है, हम उससे विलग नहीं हैं, हम स्वयं ब्रह्म हैं—यह तो किताबी बात हुई, बुद्धि-विलास हुआ। वास्तविकता यह है कि सबको

आत्मरूप समझने की बात तो दूर रही, हम अपनों को भी अपना नहीं मानते। इस द्विविधा का कारण यह है कि हम स्वयं को शरीर मानते हैं, मन मानते हैं, और निरन्तर अहं में डूबे हुए स्वार्थ की बात में ही मग्न रहते हैं। हम सांसारिक बन्धनों से कसकर बँधे हुए हैं। हमारे उन्नीस 'मुख' बहिर्मुखी हैं। हमारा प्रत्येक 'मुख' अपने 'आहार' की ओर उन्मुख रहता है और हमारा मन निरन्तर उनकी ओर भागता हुआ सदा विक्षिप्त रहता है। हम ब्रह्म में नहीं, अहं में विचरण करने में मस्त रहते है। बचपन से ही हमारा लालन-पालन ऐसे वातावरण में होता है जिसमें चारों ओर फैले हुए संसार से हटकर और कुछ सोचने-विचारने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। हमारे साधनहीन साथियों का अधिकांश समय उदरपूर्ति की समस्या हल करने मे व्यतीत हो जाता है। उच्चतम वर्ग के सौभाग्यवान व्यक्तियों को काम-क्रीड़ा से अवकाश नहीं मिलता। मध्यमवर्ग का समाज यथासम्भव थोड़ा-बहुत समय चिन्तन-मनन के लिए निकाल पाता है। यही वर्ग मानव-जाति की रीढ़ है और ब्रह्मज्ञान, आत्मसाक्षात् की दिशा में अभिरुचि रखता है। दर्पण पर जो गर्द जम गई है, सद्बुद्धि पर जो माया का आवरण पड़ गया है, उसको हटाने में देर लग सकती है, पर दृढ़-संकल्प द्वारा क्या-कुछ नही हो सकता! हम सब-कुछ होते हुए भी, अपनी वास्तविक सत्ता को पहचान नहीं पा रहे है।

दस व्यक्ति जब एक नदी तैरकर उस पार पहुँचे तो उन्होंने सोचा—गणना कर लें, हम सब ठीक-ठाक आ गए, कोई डूब तो नहीं गया! प्रत्येक व्यक्ति ने गिनती की और पाया कि वे तो केवल नौ ही रह गए। वे एक साथी के डूब जाने पर विलाप करने लगे। उधर से एक अन्य व्यक्ति आया और उसने उनके रोने का कारण पूछा। उसने पुनः गिनती की और कहा कि वे तो पूरे दस हैं; जो व्यक्ति गिनती करता था, अपने को छोड़ देता था। यही हाल हमारा है—हम ससार की अन्य प्रत्येक वस्तु की गणना तो करते हैं, उसके अस्तित्व को भी अच्छी तरह मानते हैं, केवल अपनी सत्ता को, अपने 'सत्' को स्वीकार नहीं करते। आवश्यकता इस बात की है कि कोई जानकार, ज्ञानवान् गुरु आए और हमें बताए कि हमारी भी अपनी सत्ता है जिसे जानने का हमें प्रयास करना चाहिए। श्रुत-ज्ञान, चिन्तन-ज्ञान सहायक अवश्य होगा पर वह निजी अनुभव का स्थान नहीं ले सकता, जानने के साथ-साथ इस तथ्य को जीना भी आवश्यक है।

जिस तरह ब्रह्मानन्द-वल्ली के पहले अनुवाक में ही बताया गया है कि ब्रह्मज्ञान से हमें सब-कुछ प्राप्त हो जाता है—**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**—उसी तरह आठवें अनुवाक में विस्तार से मीमांसा की है कि ब्रह्मज्ञान से मानव कितने आनन्द का भागी बन जाता है। उसकी मात्रा का अनुमान बताने के लिए ऐसा कहा गया है

कि यदि हमें पृथ्वी का सारा धन-धान्य और भोग-ऐश्वर्य प्राप्त हो जाए तो वह 'एक मानुष आनन्द' कहा जाएगा। इस प्रकार के 'सौ मानुष आनन्दों' से एक 'मनुष्य-गन्धर्वानन्द' बनता है। 'सौ-मनुष्य-गन्धर्वानन्द' के बराबर एक 'देव-गन्धर्वानन्द' बनता है। 'सौ-देव-गन्धर्वों' का जो आनन्द है, वह चिरकाल तक लोकान्तरों पर विजय प्राप्त करनेवाले 'पितरों' का एक आनन्द है। 'सौ पितरों' के आनन्द से मिलकर एक 'आजानज देवों'—जन्म से ही दिव्य गुणों वाले व्यक्तियों का—एक आनन्द है। ''सौ आजानज देवों'' का आनन्द, कर्म से दिव्य-गुणों को प्राप्त व्यक्तियों का एक आनन्द है। ऐसे आनन्दों के सौ-सौ इन्द्र और बृहस्पति आनन्द के बाद सौ प्रजापतियों का एक आनन्द आता है जो ब्रह्मानन्द के समान है। अर्थात्, मनुष्य-आनन्द के बाद लगभग बीस शून्य लगाने जैसा ब्रह्मानन्द कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्द की तुलना मानवी आनन्द की पराकाष्ठा से की ही नहीं जा सकती। इस तरह समस्त मानव-जाति को आत्मसाक्षात्कार की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया गया है।

3. पाँच कोशों का प्रसंग

ब्रह्म की परिभाषा से हमने समझा कि वह सत्, सनातन, सर्वज्ञ और आनन्द का अनन्त सागर है। उसी ब्रह्म से सबसे पहले आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पतियाँ, तथा अग्नि और अन्न से जीवधारी तथा मानव उत्पन्न हुआ। अतः, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का क्रमशः घनीकरण, स्थूलीकरण होता गया। पर कारण और कार्य का सम्बंध तो बना ही रहता है। प्रश्न उठ सकता है कि जब सब-कुछ ज्ञान एवं आनन्दमय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है तो संसार में इतना अज्ञान, दुःख, वैमनस्य, अशान्ति और ऊहापोह क्यों दिखाई देता है? यहाँ तो सुख-शान्ति का साम्राज्य होना चाहिए।

यों समझें कि जब हम गेहूँ के आटे की चपाती बनाते हैं तो उसके खाने में गेहूँ का ही स्वाद आता है। यदि हम उस आटे में बेसन, राई, मिर्च, नमक तथा अन्य मसाले मिलाकर घी से तलें तो उसका स्वाद गेहूँ के आटे से बिल्कुल भिन्न होगा। ब्रह्म से पहले तो पाँच महाभूत निकले, फिर प्राण का, चेतना का आविर्भाव हुआ और फिर मानव-जैसे विकसित जीव में मन, बुद्धि, चित्त-अहंकार-जैसे अन्तःकरण का समावेश हुआ। मन के योग से ज्ञानेन्द्रियाँ कार्यरत रहती हैं और

प्राण की सहायता से कर्मेन्द्रियाँ। इतने साधन, इतनी सामर्थ्य दान में देने के बाद ब्रह्म ने मानव को कर्म करने की स्वतंत्रता प्रदान कर दी। अपने मनोयोग से, बुद्धि-विवेक-पुरुषार्थ से वह अच्छे कर्मों द्वारा संसार को स्वर्ग बना सकता है और बुरे कर्मों द्वारा नरक—**कर्मप्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा॥** मानव में निम्न प्रवृत्तियाँ ही नहीं हैं, उदात्त आदर्श भी हैं और यदि वह चाहे, संकल्प कर ले, पुरुषार्थ करे तो वह परमानन्द को प्राप्त कर सकता है, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म बन सकता है क्योंकि वस्तुतः वह उसी का अंश है, स्वयं ब्रह्मस्वरूप है।

हमारे व्यक्तित्व की ये जो भिन्न-भिन्न परतें हैं इनको **तैत्तिरीय-उपनिषद्** कोश की संज्ञा देता है। ये कोश पाँच हैं—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश जिसको अनुभव करने पर हम सदैव आनन्द-सागर में डूबे रहते हैं, हमें कोई अभाव, कामना, इच्छा, दुःख छू नहीं सकता। प्रकाश की किरण फूटने पर क्या अन्धकार कहीं छिपा रह सकता है? ये कोश कोई अलग-अलग कोठरियाँ नही हैं जो पहली से दूसरी अधिक प्रकाशवान् है। न ही ये कोश प्याज के छिलकों के समान है जिसमें एक के अन्दर दूसरा छिलका मिला हुआ तो होता है, फिर भी वह अलग-अलग किया जा सकता है। ये कोश नारंगी की फाँकों की तरह भी नहीं कहे जा सकते। यह ठीक है कि सारी फाँकें छिलके के द्वारा एक ही नारंगी में रहती हैं—जैसे शरीर में पाँचों कोश—पर प्रत्येक फाँक दूसरी से अलग होती है। ये कोश एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं ही नहीं, आपस में गुँथे हुए हैं, या यों कह सकते हैं कि एक-दूसरे में गुम्फित हैं, अन्तर्व्याप्त हैं। एक ऐसा लैम्प होता है जिसका प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है और ज्यों-ज्यों उसकी घुण्डी घुमाते जाएँगे उसका प्रकाश बढ़ता जाएगा—कुछ ऐसे ही समझने चाहिए हमारे शरीर में विद्यमान ये कोश। अन्नमय कोश सबसे अधिक स्थूल है, सघन है। जैसे-जैसे हमारी प्रज्ञा, हमारी चेतना का विकास होता जाता है, घनत्व कम हो जाता है, हम क्रमशः आनन्दमय कोश की ओर बढ़ते जाते हैं और कालान्तर में हम उसी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं जो हमारा घर है, लक्ष्य है, उद्गम है।

हमारा सबसे पहला कोश अन्नमय कोश है। पृथ्वी के जितने प्राणी हैं सब अन्न पर आश्रित हैं, अन्न से ही उनका पोषण होता है और अन्न मे, पंच महाभूत मे वे मिल जाते हैं। अन्न खाया जाता है, और वह खा भी जाता है। संसार भोगा जाता है, परन्तु जो भोगों का दास बन जाता है, उसे भोग ही भोग लेते हैं। अन्न की व्याख्या है—'**अद्यते अत्ति च भूतानि**'—यह खाया जाता है और खा भी जाता है। अन्न से तात्पर्य केवल भोजन से नहीं है, समस्त भौतिक पदार्थों से है।

यह सच है कि हमारा शरीर अन्न से बना है, पर यह भी उतना ही सत्य है कि हम केवल शरीर ही नहीं हैं—यह तो हमारा आवरण है, घर है, वस्तुतः हम आत्मा हैं, वह आत्मा जो सर्वत्र है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है। पर इस शरीर ने, अन्नमय कोश ने, हमारी आत्मा को निगल लिया है, निगला ही नहीं, पचा भी लिया है। हम शरीर को अपना समझ बैठे हैं, आत्मा को पराई, जो हमसे कहीं बहुत दूर है और जिस तक पहुँचने के लिए जैसे हमें काफी लम्बा सफर करना पड़ेगा। कैसी विडम्बना है! हमारे भौतिक दृष्टिकोण की, जड़ता की पराकाष्ठा है यह। जितने शीघ्र हम इस तथ्य को समझ सकें उसी में हमारी भलाई है।

यह शरीर वास्तव में जड़-समान है—यह प्राण से अनुप्राणित होता है जो प्राणमय कोश कहा जाता है। शरीर तो दिखाई देता है, पर प्राण—जो सूक्ष्म शरीर का पहला सोपान है—देखा नहीं जा सकता। जैसे बिजली के तार के कण-कण में विद्युत् मौजूद है पर दिखाई नहीं देती, उसी तरह हमारे शरीर की एक-एक कोशिका प्राण की सहायता से कार्यशील है। कहा जाता है कि समस्त कर्मेन्द्रियों की कार्यक्षमता भी प्राण पर ही निर्भर है, पर उस ऊर्जा को, सूक्ष्म होने के कारण, हम देख नहीं पाते। जैसे अन्नमय कोश में, शेष चार कोश समाहित हैं, उसी तरह प्राणमय कोश में शेष तीन, मनोमय में बाकी के दो और विज्ञानमय कोश में आनन्दमय कोश समाया हुआ है। प्राण, श्वासोच्छ्वास क्रिया में काम आनेवाली वायुमात्र नहीं है, यह जीवन-तत्त्व है। इसके कई प्रकार हैं और उनके अलग-अलग कार्य हैं। प्राणमय कोश का सिर **प्राण** है, दक्षिण-भाग **व्यान** है जो सारे शरीर में व्याप्त रहती है; उत्तर-भाग **अपान** है; **समान** धड अथवा शरीर के मध्य भाग में व्याप्त रहती है। **स्वामी शिवानन्द** जी का मत है कि आत्मा शरीर के मध्य भाग में विद्यमान रहती है।

प्राण से अधिक सूक्ष्म, शक्तिशाली एवं पारदर्शी मन है, इसलिए मन में चेतना, आत्मा, अधिक परिलक्षित होती है। प्राण रजोगुण-प्रधान है और इसीलिए वह निरन्तर कर्मेन्द्रियों को किसी न किसी काम में लगाए रखता है। मन में ही रजोगुण एव तमोगुण की मात्रा होती है, पर साथ ही सतोगुण भी रहता है और वह शरीर तथा प्राण दोनों का नियंत्रण कर सकता है। जैसे प्राण कर्मेन्द्रियों द्वारा अभिव्यक्त होता है, मन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा चेतना को परिष्कृत करता है। प्राण, और उससे बढ़कर मन, दोनों आत्मा तक पहुँचने के, उसको जानने के सोपान है। अन्नमय और प्राणमय कोश तो समस्त जीवधारियों में होते हैं, मनोमय कोश पशुओं एवं मानवों के बीच की कड़ी है। मनोमय कोश बहुत-से पशु-पक्षियो में भी होता है, पर मानवो में यह अधिक विकसित होता है। शिक्षावल्ली में बताई

आज्ञा अथवा विधिवाक्य गई संधियों के अनुरूप 'मनोमय कोश' का सिर यजु: है, दक्षिण भाग ऋक् है, उत्तर भाग साम है, धड़ आदेश, आज्ञा अथवा विधिवाक्य है और पूँछ अथवा आश्रय अथर्व है—'**तस्य यजुरेव शिरः, ऋग् दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा**—(III-3)।' ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले अनुवाक में समझाते हैं कि अन्न, प्राण और मन को ब्रह्म मानकर इनकी उपासना करनेवाला ब्रह्म को नहीं, केवल भोग्य पदार्थों को ही पा लेता है; आत्मा, ब्रह्म इन सबसे परे है।

मन से महान् शक्ति है बुद्धि की, विज्ञान की। मन तो जैसा हम सब जानते हैं, इधर-उधर बिखरा-बिखरा रहता है, बुद्धि उसकी अनिश्चित, अनियत, अनिर्धारित शक्ति को समेटकर एक नियमित बिन्दु पर केन्द्रित करने का कार्य करती है। जैसे वह चंचल मन का नियमन करती है, उसके धुँधलेपन को दिशा दिखाती है, उसके अनगढ़ रूप को परिष्कृत करती है। जब मन इधर-उधर भटकता है, सब-कुछ अस्पष्ट होता है और इन्द्रियों के उद्दण्ड अश्व उसे दिशाहीन मार्ग पर दौड़ाते रहते हैं, तब बुद्धि उन घोड़ों की लगाम अपने हाथों में लेकर मन को निर्णय लेने की शक्ति एवं क्षमता प्रदान करती है—यह है विज्ञानमय कोश। मनोमय कोश और उसके साथ ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा विज्ञानमय कोश एक ही परिवार के सदस्य हैं और एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर काम करते है। प्राण तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वनस्पति में भी होता है। कुछ ऊँचे वर्ग के पशु-पक्षी थोड़ा-बहुत सोच-विचार भी कर सकते हैं, पर अधिकांश अपनी मूल प्रवृत्तियो के आधार पर कार्यरत रहते हैं। केवल मानव ही है जो पिछले अनुभवों तथा सस्कारों की सहायता से अपना वर्तमान बनाता है और उसके आधार पर अपने भविष्य की योजनाएँ निर्मित करता है। वह तर्क-वितर्क कर सकता है, अच्छाई-बुराई को विवेक द्वारा परख सकता है, अच्छे गुण ग्रहण कर दुर्गुणों से दूर रह सकता है। वह इस वात पर विचार कर सकता है कि जीवन का लक्ष्य क्या है—क्या वह सदैव क्षणिक सुख-दु:ख के चक्कर में ही पड़ा रहेगा या उससे ऊपर उठ परमानन्द की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करेगा? इन सब लक्ष्यों की ओर उसको विज्ञानमय कोश ही प्रेरित करता है।

हमने देखा कि ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है। 'सत्' अर्थात् अस्तित्व तो जड़ वस्तुओं का भी होता है। चेतना अन्य जीवधारियों में भी होती है, परन्तु परमानन्द प्राप्त करने का सौभाग्य केवल मानव को ही उपलब्ध है। वह आनन्द कहीं बाहर नहीं, हमारे अन्तर् में विराजमान है। जब तक हम उसका अनुभव नहीं कर लेते उसमें लीन नही हो जाते हमारी जीवन मरण की लीला चलती रहेगी

जब रजोगुण—निरन्तर कुछ करने की, पाने की इच्छा बनी रहती है, सतोगुण पूर्णतया परिपक्व नहीं हो पाता। आनन्द का उदय तो अन्तःशान्ति प्राप्त करने के बाद ही सम्भव है। जब तक हमारे मन में, चेतना में वृत्तियाँ, उदय-विलय होती रहती है, चित्त-रूपी सागर मे लहरें उठती रहेंगी, तब तक भगवान्-रूपी सूर्य का प्रतिबिम्ब कैसे दिखाई देगा। वह तो तितरबितर होकर खण्डित हो ही जाएगा। आनन्दमय कोश का आनन्द तभी मिल पाएगा जब हम अन्य सब चिन्तन छोड़ केवल सच्चिदानन्द के चिन्तन में लीन हो जाएँगे। लेखक के काव्य-सग्रह 'मथन' से एक कविता के कुछ अंश देखिए :

यह संसार एक विशाल प्रयोगशाला है।
प्रयोग है—अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ना। और जब तक हम सब
पूर्ण नहीं हो जाते, यह प्रयोग चलता रहेगा, चलता रहेगा।
पौ फटती है और प्रयोग शुरू…,
घर-बाहर, प्रतिदिन प्रतिपल यह प्रयोग निरन्तर चलता रहता है।…
देखना यह है कि हम अपने क्षण-क्षण के व्यवहार में, आचार-विचार में,
कहाँ तक सफलता प्राप्त कर रहे हैं?
सफलता परखने की कसौटी है—सरल, सहज, संयत व्यवहार,
निर्मल, निश्छल, निर्लिप्त विचार।
सरलता से सरल कौन-सा व्यवहार हो सकता है?
निर्मलता से निर्मल और कौन-सा विचार हो सकता है?
प्रयोग बहुत आसान है, पर असाध्य भी….

पूर्ण की प्राप्ति तो पूर्ण के ही चिन्तन से होगी, अपूर्ण के चिन्तन से नही। पंचकोश के विवेचन से हमारे सामने अध्यात्म-राजमार्ग के मानचित्र का पता चल जाता है। हम इस साधना में किस स्तर पर हैं इसका भी हम अनुमान लगा सकते हैं। अधिकांश लोग तो अन्नमय कोश और प्राणमय कोश, अर्थात् भौतिकवाद मे ही अटककर रह जाते हैं। कुछ अन्य बुद्धि-विवेक की सहायता से मन को नियंत्रित करने में सफल हो जाते हैं। इनको हम बुद्धिजीवी कह सकते हैं। यह भी प्रायः रजोगुण की पकड़ में कर्मरत होकर उद्विग्न रहते हैं। जब इनके कर्म निष्काम होने लगते हैं, मन मौन और चित्त समभाव की ओर बढ़ने लगता है, तब इनको आनन्द का स्वाद आने लगता है। मानव-जीवन का लक्ष्य स्पष्ट है—हमे क्रमशः अन्नमय कोश के धुँधले तथा स्थूल वातावरण से निकलते हुए, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों के सूक्ष्म स्तर से आगे बढ़ते हुए, अन्ततोगत्वा कोश के सात्त्विक ससार में विचरण करना है

1. सृष्टि की रचना

हमारे जीवन की सारी समस्याएँ एक ही शब्द के चारों ओर घूमती हैं—कर्त्तव्य, लक्ष्य। हमारा कर्तव्य क्या है, स्वधर्म क्या है, जीवन का लक्ष्य क्या है? हम कहाँ से आए हैं, किधर जा रहे हैं, किस ओर जा रहे हैं? क्या अपने लक्ष्य के समीप पहुँच रहे हैं या उससे दूर हटते जा रहे हैं? देखने में हमारे-आपके लक्ष्य, कर्तव्य, देशकाल-परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अलग-अलग हो सकते हैं, पर केवल सतही स्तर पर, भौतिक, स्थूल दृष्टि से। यदि आप गहराई से विचार करें, पैनी दृष्टि से देखें, मूल तक पहुँचने का प्रयत्न करें तो शीघ्र समझ में आ जाएगा कि वस्तुत: हम सब का लक्ष्य एक ही है, और वह है एक ऐसे आनन्द को प्राप्त कर लेना जो सदा एकरस रहे, परमानन्द हो, अमर और अजर हो। हमारा परम कर्तव्य बन जाता है कि लोकमर्यादा के उत्तरदायित्वों को निभाते हुए, आने-जाने वाले सुख-दु:ख से गुज़रते हुए, निरन्तर हम अपने परम कर्तव्य, परम लक्ष्य की ओर चलते रहें, बढ़ते रहें और जब तक उसको पा न ले, चैन से न बैठें। उपनिषदों में इस परम कर्तव्य को निभाने के, उस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन बताए गए हैं। **ऐतरेय उपनिषद्** भी हमको यही समझाने का प्रयत्न करता है।

यह उपनिषद् **ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक** का भाग है। इसके शान्तिपाठ को मिलाकर छह खण्ड हैं और सबका मुख्य विष्य आत्म-विवेचन है, इसलिए इस उपनिषद् को '**आत्मषटक**' भी कहते हैं। क्योंकि इसकी रचना **महिदास ऐत्रेय** ने की है, इसलिए इसका नाम उन्हीं के नाम पर पड़ गया। उन्होंने बड़ी रहस्यमयी तथा प्रतीकात्मक भाषा में सृष्टि-रचना की व्याख्या की है और सर्वत्र इस बात पर बल दिया है कि आत्मा ही एक सत् है अन्य कुछ नहीं है ऐसा

लगता है कि जिस सत्ता को अन्य उपनिषदों ने ब्रह्म की संज्ञा दी है, उसको ही **महर्षि ऐत्रेय** 'आत्मा' के नाम से पुकारते हैं, वह ब्रह्म जिसकी **तैत्तिरीय-उपनिषद्** ने **'सत्यं ज्ञानं अनन्तम्'** परिभाषा की है और जो इन विशेषणों के साथ-साथ 'आनन्द' भी है। इस परिभाषा का विवेचन हम पिछले लेख में कर चुके हैं। ब्रह्म कहें या आत्मा, उपनिषदों का संकेत उसी सत्ता की ओर है जो पहले भी था, आज भी है, और कल भी रहेगा, जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वान्तर्यामी है, जो इस परिवर्तनशील जगत में, अपरिवर्तित रूप से सदैव बहता रहता है, विद्यमान रहता है, और जो आनन्द का सागर है।

ऐतरेय-उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड के पहले मंत्र की पहली पंक्ति है—**आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन,** अर्थात् सृष्टि-रचना से पहले केवल एकमात्र आत्मा ही था, अन्य दूसरा कुछ भी नहीं था। जैसा **नासदीय सूक्त** में कहा गया है, तब न उजाला था न अँधेरा, न दिन था न रात, न जीवन था न मृत्यु, शान्त, निस्तब्ध, केवल एक साँस ले रहा था। कैसा रहस्यमय वातावरण होगा वह! और उस 'आत्मा' ने 'ईक्षण' किया, सब-कुछ विचार-ही-विचार में देख लिया कि किन-किन लोकों को, किन-किन रूप में सर्जन करूँ। इसको ध्यान से समझना है—क्या सर्जनहार और सृष्टि अलग-अलग थे—जैसे कुम्हार और उसके द्वारा बनाए हुए बर्तन-भाँडे, खाती और उसके द्वारा बनाए गए मेज, कुर्सी, पलँग आदि? या सृष्टि और स्रष्टा दोनों एक ही थे और एक-दूसरे में से ही उपजे हैं, अभिन्न हैं, जैसे एक बाजीगर अपने थैले में से नई-नई वस्तुएँ निकालकर करतब दिखाता है और फिर सब समेटकर उसी थैले में 'रख' कर अपना रास्ता लेता है?

आत्मा किन-किन लोकों का विचार करता है, और उन विचारों को क्या रूप देता है—इसको जानने-समझने के लिए ब्रह्माण्ड-विज्ञान की पृष्ठभूमि जानने से सहायता मिलेगी। **गीता** के आठवें अध्याय के अठारहवें श्लोक में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जब ब्रह्मा का, 'आत्मा' का दिन आरम्भ होता है तो अव्यक्त सत्ता से सारी सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है, और जब उसकी रात होती है तो सारी सृष्टि उसी अव्यक्त में लीन हो जाती है, समा जाती है। यथा—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ *(VIII-18)*

जैसे काल के जिस अन्तराल में सृष्टि की अभिव्यक्ति, पुष्टि एवं नाश होता है वह ब्रह्मा का दिन होता है और उसे कल्प कहते हैं, वैसे ही ब्रह्मा की रात्रि को

प्रलय कहते हैं। ऐसे ही ब्रह्मा के तीस दिन और रात ब्रह्मा का एक मास, और ऐसे बारह मास ब्रह्मा का एक वर्ष कहलाता है। चार युग होते हैं—सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। चारों युगों को मिलाकर एक महायुग होता है जो मानव के 12000×360 अथवा 43, 20,000 वर्षों के बराबर होता है। ऐसे हजार युगों के बराबर एक कल्प होता है। पश्चिम के विख्यात खगोलज्ञ **कार्ल सगन** का मत है कि काल की इतनी विशद एवं महान् विवेचन की कल्पना विश्व की किसी अन्य प्रजाति ने अभी तक नहीं की है जैसी भारतीय मनीषियों ने हजारों वर्ष पहले की थी।

भारतीय वैज्ञानिकों की विशाल काल-कल्पना के सम्बन्ध में एक कहानी बताए बिना मन नहीं मानता। राजा इन्द्र ने स्वर्गलोक के महान् वास्तुकार विश्वकर्मा को बुलाकर अपने लिए एक ऐसा सुन्दर महल बनाने का आदेश दिया जैसा न तो कभी पहले बना हो और न कभी भविष्य में बन सके। विश्वकर्मा जी ने एक अत्यन्त भव्य भवन का मानचित्र बनाकर प्रस्तुत किया। इन्द्र को वह पसन्द आ गया और उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। काम आरम्भ हो गया। पर जब-जब राजा इन्द्र बनते हुए भवन को देखने जाते, अनेक नए सुझाव दे आते। विश्वकर्मा संशोधन करते-करते व्यथित हो गए। बहुत दुःखी होकर वह विष्णु के पास सहायता माँगने गए। विष्णु भगवान् ने आश्वासन दिया कि वह कोई उपाय निकालेंगे; अगली बार इन्द्र जब भवन का निरीक्षण करने जाने वाले हों तो वह उनको पूर्व-सूचना दे दें। उचित समय पर विष्णु एक ब्राह्मण-बालक का रूप धारण कर स्थल पर पहुँच गए। राजा इन्द्र उनकी आवभगत कर रहे थे कि एक मीटर चौड़ी चींटियों की पंक्ति वहाँ से निकलने लगी। विस्मित होकर राजा इन्द्र ने इसका रहस्य पूछा। ब्राह्मण-बालक ने बताया, 'हे राजन्, इनमें से प्रत्येक चींटी एक इन्द्र थी। अपने पुण्य कर्मों के आधार पर इन मानवों को इन्द्र की पदवी प्राप्त हुई थी और फिर अपने दुष्कर्मों द्वारा वे गिरते-गिरते हजारों जन्मों के बाद अब चींटी की योनि में आ गए हैं।' इतने में ही वहाँ **लोमस ऋषि** आ गए। अर्घ्य देने के बाद उन्होंने आसन ग्रहण किया। उनके विशाल वक्षःस्थल पर बहुत घने बाल थे, पर बीच में गोलाकार एक भी बाल नहीं था। कारण पूछने पर ऋषि ने बताया कि प्रत्येक इन्द्र का काल समाप्त होने पर वह एक बीच का बाल तोड़ देते हैं। अतः जितने बाल वह तोड़ चुके हैं, इन इन्द्र के पूर्व उतने ही अन्य इन्द्र इस सृष्टि में इन्द्रपद भोग चुके हैं। राजा इन्द्र का अभिमान चूर-चूर हो गया और उसके बाद उन्होंने विश्वकर्मा जी से कभी कोई शिकायत नहीं की।

तेतालीस लाख बीस हजार वर्षों का एक महायुग नहीं, कितने ही महायुग

हो चुके हैं, और होते रहेंगे। ऐसा लगता है कि भारतीय वैज्ञानिक सृष्टि की उत्पत्ति की 'बड़े धमाके'—**बिग बैंग**—वाला मत न मानकर **स्टेडी स्टेट**—सदा रहनेवाले मत का अनुमोदन करते हैं। यहाँ एक बात स्पष्ट कर दें—यह जो ब्रह्मा के दिन और रात की कहानी कही गई है, यह ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति में से एक है जिनका कार्य सृष्ट करना है, जैसे विष्णु का पुष्टि करना, संरक्षा करना, और महेश अथवा शिव का विनाश और भलाई करना है। ये उपनिषदों में बहुचर्चित **'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम्'** ब्रह्म नहीं हैं। भगवान् कृष्ण आठवें अध्याय के अगले श्लोक (उन्नीसवें) में सृष्टि-प्रलय की प्रक्रिया को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं : हे पार्थ! वही यह भूत-समुदाय—**भूतग्रामः स एवायं**—उत्पन्न हो-होकर प्रकृति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेश-काल मे लीन होता है और ब्रह्मा का दिन होने पर फिर उत्पन्न होता है। अर्थात्, प्रलय के समय समस्त जीवों के कर्मो का लेखा-जोखा तो समाप्त हो नहीं जाता, वे सब अपने-अपने संस्कारों को साथ लेकर, काल के मुख में चले जाते हैं; और जब ब्रह्म का प्रभात होता है तो वे सब अपने समस्त अधूरे संस्कारों की पिटारी लेकर पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। **गीता** के अनुसार कर्मबन्धनों की यह प्रक्रिया अबाध रूप से निरन्तर चलती रहती है और तभी समाप्त होती है जब मानव विकार-रहित, कामना-रहित होकर, परमात्मा मे लीन हो जाता है।

यहाँ आपको ब्रह्माण्ड की झलक दिखाना आवश्यक समझा जिससे सृष्टि का यह पक्ष भी आपको ज्ञात हो जाए। **ऐतरेय उपनिषद्** में जिस 'आत्मा' का प्रतिपादन किया गया है वह ब्रह्म नहीं, ब्रह्म के समान है, जो सृष्टि की रचना के पूर्व अकेला ही विद्यमान था। उसने ईक्षण करने के बाद चार लोकों का सर्जन किया—'अम्भस्, 'मरीचि', 'मर' और 'आपस्'। द्युलोक तक और उससे परे जो लोक हैं, वे अम्भस्-लोक हैं; उनके नीचे अन्तरिक्ष में जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रकाशवान् लोक हैं, वे 'मरीचि' कहलाते हैं, यह पृथ्वी जिसमें जीव जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वह 'मर' अथवा मृत्युलोक है; और उसके नीचे 'आपस्' लोक की रचना की। इन लोकों को चलानेवाला भी तो होना चाहिए था, इसलिए उस 'आत्मा' ने लोकपालों को—**लोकपालान्नु सृजा**—लोकों के रक्षक, अधिष्ठाता, देवताओं को तन्मात्राओं, सूक्ष्म तत्त्वों, द्वारा रचा इत्यादि। इस उपनिषद् में आदि-सृष्टि की बात कही गई है जब एकमात्र 'आत्मा' ही अकेला था, अन्य कुछ नहीं। **गीता** में भगवान् कृष्ण ने बाद में आनेवाली ब्रह्मा द्वारा रचित 'सृष्टियों' की ओर संकेत किया है, अतः दोनों मे कोई विरोधाभास नहीं है। एक प्रश्न उठ सकता है कि जब आदि-सृष्टि के समय आत्मा के अतिरिक्त और कुछ

नहीं था तो इस सृष्टि के उपादान कहाँ से आए? तो यह मानना ही पड़ेगा कि सब-कुछ उसी एक आत्मा का प्रसार, फैलाव, प्रतिरूप है। जैसे सागर की छोटी-बड़ी अनेक लहरें, ज्वार-भाटा, फेन अलग-अलग प्रतीत होते हैं पर हैं सब सागर ही, उसी तरह यह भिन्न-भिन्न सृष्टि भी उसी एक आत्मा के रूप हैं।

2. 'प्रज्ञान ब्रह्म'

सृष्टि के शुरू में कुछ भी नहीं था। केवल एक आत्मा था। आत्मा ने इच्छा की और वह एक से अनेक हो जाए। इसके तुरन्त कई परिणाम हुए—एक, 'अनेक' में अलग-अलग चेतना होना उनकी पहचान के लिए आवश्यक था, अथवा जो पहले एक चेतना थी वह बँट गई। दूसरे, द्वैत भावना जाग्रत हो गई। पहले तो 'मैं' के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं, अब 'मैं' और 'तुम' की भावना जाग्रत हो गई, और इस 'तुम' में अपने अतिरिक्त सारा जगत सम्मिलित था। तीसरे, अलग-अलग इकाइयों में भूख-प्यास आदि की कामना उत्पन्न हो गई। भूख-प्यास का व्यापक अर्थ लेना चाहिए और उनके अन्तर्गत सारे सांसारिक भोगों को भोगने की तीव्र इच्छा शामिल है। चौथे, पहले जो असीम, अनन्त, सर्वज्ञ, सत्य था उसके वे गुण-लक्षण समाप्त हो गए; प्रत्येक इकाई सीमित, अल्प, अस्थायी, लौकिक होकर रह गई। साथ ही यह भी कहना तर्कसंगत होगा कि जो 'अनेक' 'एक' से निकले हैं, इन सब मे वह 'एक' समाया हुआ है, अन्तर्भूत है, उस 'एक' ने ही तो इनको प्रक्षेपित किया है। अत: वे कभी भी छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति से संतुष्ट नहीं हो सकेंगे, सदा अपने उद्गम की ओर अग्रसर रहेंगे, अनन्त से निकले हैं और जब तक अनन्त में मिल नहीं जाएँगे उनको चैन नहीं आएगा, संतोष हो नहीं सकता, जैसे जब तक नदियाँ सागर तक पहुँच नहीं जातीं, उससे तादात्म्य नहीं कर लेतीं, वे बहती रहती हैं, बढ़ती रहती हैं।

'एक' के अनेक होने से 'एक' की अक्षुण्णता में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आती, और ना ही उसकी सर्वज्ञता में, उसकी अनन्त शक्ति अथवा सर्वव्यापकता में कोई अन्तर पड़ता है। वह 'पूर्ण' था, 'पूर्ण' है और पूर्ण रहेगा। पूर्ण में से पूर्ण की अभिव्यक्ति हुई है, फिर भी पूर्ण का पूर्ण ही है। उस सर्वोच्च

कारण में से समस्त परिणाम, सारे कार्य प्रकट हुए हैं, फिर भी वह जैसा पहले 'पूर्ण' था वैसा ही अब भी पूर्ण है, जैसा इस श्लोक में कहा गया है :

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

एक तरह से यह **ऐतरेय उपनिषद्** का संक्षिप्त सार है। पर इसके रचयिता ने सृष्टि की उत्पत्ति को बड़े प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके संकेत को समझने के लिए हमें कई बातें ध्यान में रखनी होंगी जिनसे हो सकता है सारे पाठक सहमत न हों। पहली बात तो यह कि उस युग में ब्रह्माण्ड-विज्ञान के विषय में इतनी खोज, शोध, अनुसंधान नहीं हुआ था जितना बाद में हुआ है। दूसरे, उस समय उपनिषत्कारों के पास सबसे प्रामाणिक पुस्तक चार वेद तथा उनकी संहिता एवं आरण्यक ही उपलब्ध थे। तीसरे, उन ऋषियों-मुनियों ने बहुत-से तथ्य गहन ध्यान द्वारा प्राप्त किए थे जिनकी जाँच सम्भव नहीं थी। आवश्यक नहीं है कि सब साधकों के अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रज्ञा एक-सी ही हो। चौथे, यह विषय इतना गंभीर है कि उसका निरूपण सीधी-सादी भाषा में करना कठिन है और उन्होंने सांकेतिक भाषा में किया। यह सम्भव है कि भिन्न-भिन्न विद्वान् इसका अलग-अलग विवेचन करें। सबसे बड़ी बात यह है कि सृष्टि की घटना को कोई देखनेवाला तो था नहीं और उस समय, या आज के युग में, जो कोई विवरण देता है वह काल्पनिक ही कहा जाएगा।

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार उस एक 'आत्मा' ने सबसे पहले लोकों का सृजन करने के बाद एक विराट् पुरुष को उत्पन्न किया जिसके अन्तर् से अनेक शक्तियाँ बनाईं। इन शक्तियों के रहने की व्यवस्था करनी थी। पहले गाय या बैल में उनको रहने को कहा गया, फिर घोड़े में। दोनो को इन शक्तियों ने व्यर्थ मानकर अस्वीकार कर दिया। तब 'आत्मा' ने मानव की सृष्टि की और उसमें निवास करने के लिए सारी शक्तियाँ सहर्ष राजी हो गईं और अपनी-अपनी इन्द्रिय की अधिष्ठात्री बनकर जम गईं। तत्पश्चात् उसने अन्न को रचा जिससे सबकी पुष्टि-तुष्टि हो—'**हैवान्नमत्रप्स्यत्**' तथा '**अन्नायुर्वा एष यद्वायुः**' (I-3-7 और 10) क्योंकि अन्न से आयु है।

रचयिता ने लोक रचे, लोकपाल रचे, पुरुष रचा, अन्न रचा। अब जीवात्मा की बारी आई क्योंकि बिना जीवात्मा के भौतिक देह रह नहीं सकती। उसने कहा कि प्रत्येक इन्द्रिय तो अपना-अपना कार्य कर रही है, अन्तःकरण भी चिन्तन-मनन आदि में संलग्न है, मेरा स्थान कहाँ है? जीवात्मा कपाल के दो भागों को

विदीर्ण कर उसी द्वार से देह में प्रविष्ट हो गया। शरीर में जब जीवात्मा इस स्थान में—जहाँ सहस्रार चक्र की कल्पना की गई है—रहता है, तब उसे परमानन्द प्राप्त होता है इसलिए इस स्थान को 'नान्दन' भी कहते हैं। योगियों का यह ध्येय रहता है (तैत्तिरीय I-6, छान्दोग्य VIII-6) कि मृत्यु के समय 'नान्दन' स्थान में आकर विदृति-मार्ग से जीवात्मा का निर्गमन हो (I-3-12)। इसी श्लोक मे, और इसी उपनिषद् में, पहली बार, जाग्रत अवस्था को भी 'स्वप्न' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जब तक जीवात्मा को 'आत्मा' का, 'ब्रह्म' का साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक जीव को 'सोता' ही समझना चाहिए।

बाइबिल में सृष्टि की प्रक्रिया बहुत साधारण है—ईश्वर ने छह दिन मे संसार की सृष्टि की और सातवें दिन विश्राम किया—कोई विस्तृत वर्णन नहीं है। **क़ुर्आन शरीफ़** ने भी कुछ-कुछ ऐसा ही कहा है—**'फी सित्ताता अय्याम'**—खुदावन्द ने छह दिन तक सृष्टि रची। इसमें सातवें दिन विश्राम की बात नहीं की गई है क्योंकि खुदा कभी थकता नहीं। एक बात का और खुलासा **'इक़बाल'** ने अपने **'तज़करे'** मे किया है कि खुदा का एक योम (दिन) मानव के हज़ार वर्ष जैसा हो सकता है। 'देश' और 'काल' में आधुनिक वैज्ञानिकों तथा दार्शनिको ने—जैसे **हीगल, हॉकिन्स**' और '**आइन्सटाइन**' ने एकदम अनूठी व्याख्याएँ की है। एक मत है कि देश (स्पेस) और काल समानान्तर हैं, दूसरा है कि हम काल में, समय में, पीछे की ओर, भूतकाल में भी जा सकते हैं, इत्यादि।

सृष्टि-सम्बन्धी अधिकांश मत भौतिकवादी हैं। यूनान तथा जर्मनी के प्राचीन दार्शनिक और कुछ अन्य दार्शनिक भी, ईश्वर-सत्ता को तो मानते हैं, पर अधिकांश का मत है कि सृष्टि का विकास क्रमिक रूप से लाखों वर्षों में हुआ है, और अब भी हो रहा है। भारतीय एवं अन्य देशों के सभी वैज्ञानिक एक बात पर सहमत हैं कि जीवन की उत्पत्ति जल से हुई है (ब्रह्म का एक अर्थ जल भी है)। आज के वैज्ञानिक पञ्चमहाभूतों के अस्तित्व को मानकर चलते हैं। हज़ारों-लाखो वर्ष तक जल में विभिन्न रासायनिक पदार्थो का संयोग एवं सम्मिश्रण चलता रहा। बिजली के चमकने तथा विकिरण का भी कुछ प्रभाव पड़ता रहा। इन सब के मिलने-जुलने के कारण वर्षो बाद एक-कोशिका जन्तु 'अमीबा' का अनायास ही जन्म हो गया। इस कोशिका में एक से दो, दो से चार और चार से आठ आदि होकर बढ़ने की क्षमता थी। जब तक 'अमीबा' रहा तब तक भोजन की कोई समस्या नहीं थी, जैसे चारों ओर भोजन का सागर लहरा रहा था। पर जब एक कोशिका की जगह बहुत कोशिकाओ का जीव होने लगा तो बाहरी भाग की कोशिकाओ को तो भरपूर भोजन प्राप्त हो जाता था, पर वह भोजन

अन्दर की कोशिकाओं तक नहीं पहुँच पाता था और वहाँ तक भोजन पहुँचाने के लिए एक नली-सी और एक मुख को बनाने की आवश्यकता पड़ी। जब ऐसे जन्तुओं की संख्या बहुत बढ़ गई तो आपस में टक्कर होने लगी। कोशिकाओं का विशिष्टीकरण तो आरम्भ हो ही गया था, उनमें से कुछ देखने के यंत्र बन गई। सागर की लहरों ने कुछ जन्तुओं को पृथ्वी पर ला पटका और उनको रेंगने तथा चलने-फिरने के साधनों की आवश्यकता पड़ी। इस तरह क्रमिक विकास होते-होते पशु-पक्षियों के बाद मानव भी सामने आने लगा।

सृष्टि की उत्पत्ति-सम्बन्धी उपनिषत्प्रोक्त मुख्य धर्मों तथा वैज्ञानिकों के संक्षिप्त मत आपके सामने रखे गए। आप जो ठीक समझें उसे मानें, या किसी को भी स्वीकार न करें। इस जानकारी से आपको आनन्द की खोज में विशेष सहायता मिलने वाली नहीं है। इस उपनिषद् के आरम्भ में कहा गया था—जब सृष्टि की रचना हुई थी, तब सबसे पहले केवल एक आत्मा ही था—**आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत्**—और अन्त में कहा गया—सम्पूर्ण लोक 'प्रज्ञा-नेत्र' हैं, 'प्रज्ञान' ही ब्रह्म है। जिस आत्मा की हम उपासना करते हैं, वह यही है—**प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म** (III-3.3)। **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**—यह उपनिषदों के चार महावाक्यों में से एक है। अथवा, **ऐतरेय उपनिषद्** का मुख्य संदेश है कि आत्मा एक है, वह परम, असीम चेतना है, हम उसका अनुभव करने पर ही परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं।

1. कामनाएँ कम करें

अब तक हम विभिन्न विधियों द्वारा ब्रह्म को, परमानन्द के स्रोत को, जानने का प्रयत्न करते रहे हैं—वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा है, जैसे भिन्न-भिन्न नाम-रूप के सोने से बने आभूषण वास्तव में सोने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसी तरह ब्रह्म से, ईश्वर से उपजा यह संसार केवल ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं है, ब्रह्म **सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम्** है; जो आँख में दिखाई दे रहा है वही ब्रह्म है; ब्रह्म को समझने के लिए शनैः-शनैः एक-एक सीढ़ी ऊपर चढना चाहिए, छलाँग मारने से कुछ हाथ आने वाला नहीं है इत्यादि। पर शायद हममे से अधिकांश क्षणिक सुख—क्षणभगुर धन-दौलत, मान-मर्यादा, ऐश्वर्य-वैभव के ही चक्कर में पड़े हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि हम आज भी उन्हीं को महत्त्व देते हैं; ब्रह्म के बारे में हमने कुछ शब्द-ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है, आत्म-ज्ञान नहीं, और न ही हमने अभी तक उसकी प्राप्ति, **आनन्द की खोज** को, अपना लक्ष्य बनाया है। जिस दिन हमने उसे अपना ध्येय निश्चित कर लिया, हमने उसके जानने का ध्यान द्वारा पहला पग उठा लिया, हमें तनिक भी उस अनन्त आनन्द का चस्का पड़ गया, फिर तो पौ-बारह हैं। हम बढ़ते ही जाएँगे, बढते ही जाएँगे, पीछे मुड़कर देखने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

एक महात्मा से किसी गृहस्थ ने कहा : "महाराज, आपने संसार के सारे सुख छोड़ दिए हैं, आपका त्याग महान् है, आप धन्य हैं!" संत ने उत्तर दिया, "मुझसे कहीं बड़ा तो आपका त्याग है, मैं तो विस्मित हूँ आपके त्याग को देखकर। मैंने सत्य को, अनन्त को, ज्ञान के सागर को पाने के लिए अस्थायी आने-जानेवाले, क्षणभंगुर सुखों को तिलांजलि दी है और आपने केवल अनित्य सुख के लिए नित्य, चिरस्थायी परमानन्द का त्याग कर दिया।"

हमारे उपनिषत्कारों की असीम कृपा, अपार दया के लिए हम कभी भी पर्याप्त धन्यवाद दे नही सकते जो समस्त मानव-जाति के कल्याण हेतु, नित

नवीन ढंग से उस परमानन्द तक पहुँचने के अनेक मार्ग दिखाते नहीं थकते। क्या पता किसको कौन-सी बात चुभ जाए, कौन-सी युक्ति भा जाए और वह चल पड़े आनन्द की खोज में! **केनोपनिषद्** ब्रह्म को जानने की समस्या का बड़े विलक्षण ढंग से कथोपकथन के रूप में समाधान प्रस्तुत करता है। एक अधिकारी शिष्य बड़ी काव्यमय भाषा में गुरु से प्रश्न करता है : ''यह मन मानो किसकी प्रेरणा से अपने विषयों पर टूटा पड़ता है?'' प्रश्न का अंदाज़ देखते हुए, **रवीन्द्र कवीन्द्र नाथ ठाकुर** की कविता की एक पंक्ति याद आती है—देखने की उत्सुकता को दर्शाते हुए वह कहते हैं—**देखिबारे आँखि पाँखि धाए**—देखने के लिए आँखों के पक्षी दौड़े। आगे साधक पूछता है—''किसके द्वारा प्राण पहले-पहल गति करने लगता है—हम वाणी बोलते हैं, चक्षु और श्रोत्र अपने-अपने विषयों में नियुक्त हो जाते हैं?'' हम सबके मन में भी ऐसे प्रश्न उठते हैं, और उठने भी चाहिएँ।

गुरु ने इस प्रश्न का जो रहस्यमय उत्तर दिया वह विश्व के दार्शनिक साहित्य में अद्वितीय है। उन्होंने कहा : वह कानों का कान, आँखों की आँख है, मन का वही मन है, वाणी की वही वाणी है, प्राण का वही प्राण है। यह जानकर धीर लोग इन्द्रियो के विषयों का साथ छोड देते हैं और इस लोक में मरकर अमर हो जाते हैं—'**अतिमुच्य धीराः प्रत्यास्माल्लोकाद् अमृताः भवन्ति**' (I-2)। अगले मन्त्र में इस भाव की व्याख्या करते हुए ऋषि कहते है—''आँख—अथवा कोई भी इन्द्रिय—वाणी, मन आदि वहाँ पहुँच ही नहीं सकते। जो हम जानते हैं '**वह**' उससे अन्य है, और जो हम नहीं जानते हैं उससे भी भिन्न है। ऐसा भी नही है कि हम उसको बिल्कुल नहीं जानते, संसार में उसका आभास तो सब को है, इसलिए वह अविदित भी नहीं है। हमसे पूर्व जिन ऋषियों ने '**उस**' की व्याख्या की है हम उनसे ऐसा ही सुनते चले आए हैं।''

बड़ी विचित्र व्याख्या है। पहली बात तो यह समझना है कि हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन भी '**उस**' तक नहीं पहुँच सकता—वह अतीन्द्रिय है। इसको समझना इतना कठिन भी नहीं है। जो सबको देखता है आँख उसे कैसे देख सकती है। जो सब-कुछ सुनता है कान उसे कैसे सुन सकते हैं। जो सबके मन की बात जानता है मन उस तक कैसे पहुँच सकता है! हमारी सारी इन्द्रियों की रचना कुछ इस प्रकार हुई है कि वे सब बाहर के विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं, पर '**उस**' को जानने के लिए तो अन्तर्मुखी होना आवश्यक है, अतः प्रत्याहार का अभ्यास करना पड़ेगा। क्या आँख, आँख को देख सकती है? एक कलाबाज़ कितना ही चतुर क्यों न हो, वह अपने कन्धों पर तो सवार हो नहीं सकता। मन भी '**वहाँ**'

तक नहीं पहुँच सकता, वह 'जाननेवाले' को कैसे जान सकता है। हमारी इन्द्रियाँ उन वस्तुओं का वर्णन कर सकती हैं जिनका नाम-रूप हो, गुण-दोष हों। ब्रह्म उसका नाम है, रूप उसका है नहीं, गुणातीत है वह। हाँ, उसके समझने के लिए हमने उसकी परिभाषाएँ बना रखी हैं—वह सच्चिदानन्द है, **सत्यं-ज्ञानं-अनन्तम्** है इत्यादि। ये सब अस्थायी, अन्तरिम परिभाषाएँ हैं जिनकी सहायता से हमें उसके बारे में कुछ जानकारी मिल सके, पर वस्तुतः ब्रह्म वाणी से परे है, मन की पकड़ के बाहर है, बुद्धि उसकी व्याख्या कर नहीं सकती, और जो व्याख्या की जाती है वह ब्रह्म है नहीं—**अक़्ल में जो घिर गया लाइन्तहा क्योंकर रहा!**

मन्त्र कहता है—जो हम जानते हैं ब्रह्म उससे अलग है, और जो हम नही जानते हैं वह उससे भी अन्य है—**तद्विदितादथो अविदितादधि** (I.3)। इसमें विरोधाभास प्रतीत होता है, पर ऐसा है नहीं। **ईशावास्यं इदं सर्वम्** ईश्वर कण-कण में व्याप्त है, परम प्रज्ञा है, रहस्यमयी है, इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता; वह केवल अन्तर्बोध, अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही जाना जा सकता है। अन्तःप्रज्ञा के विकास के लिए मन की शुद्धि, विकार-रहित होना, कामनाओं से निवृत्त होना और जमकर ध्यान करना आवश्यक है। प्रजापति ने विरोचन तथा इन्द्र दोनों को यह शिक्षा दी थी कि जो तुम्हारी आँख में दिखाई दे रहा है वह ब्रह्म है। विरोचन ने उसका यह अर्थ निकाला कि यह शरीर ही ब्रह्म है और लग गए उसको बनाने-सँवारने में। पर इन्द्र ने विचार किया कि यह शरीर और उसके उन्नीस मुख तो नश्वर हैं, यह ब्रह्म कैसे हो सकता है? इस तरह अपनी शंकाओ का निवारण करने प्रजापति के पास वह तीन बार आए और हर बार उनको 32 वर्ष तक तपस्या करने का आदेश दिया गया। जब वह चौथी बार पुनः आए, तब भी प्रजापति ने देखा कि अब भी वह कुछ कच्चे हैं और पाँच वर्ष उनको और तप करने का परामर्श दिया। तप का अर्थ है अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना और अपने विषयों की ओर लपकने से रोकना आदि। इन्द्र को 101 वर्ष तक तप करने के बाद प्रजापति ने ब्रह्म का रहस्य बताया। हम यदि ब्रह्म को जानना चाहते हैं, उसमें लीन होना चाहते हैं तो कम से कम ग्यारह वर्ष तो चित्त-शुद्धि में लगाएँ। तब शायद हमारी अन्तःप्रज्ञा में स्फुरण हो। यदि हम अपने-आपसे, अपने सम्बन्धियों से, संसार से ही चिपके रहेंगे तो परमानन्द की ओर किस प्रकार अग्रसर हो सकेंगे।

ग्यारह वर्ष के तप का आशय यह नहीं है कि आप राजा इन्द्र की तरह अपना सिंहासन त्यागकर वनवास ले लें। समय बदल गया है। उन्होंने तो राजपाट वह भी स्वर्ग का छोड दिया था। आप और हम जहाँ रहते हैं वही

रहें, जिस कार्य में लगे हुए हैं वही करते रहें, अपने परिवार, समाज, राष्ट्र के कर्त्तव्यों का यथापूर्व पालन करें; केवल तीन बातों का और अभ्यास करें—एक, अपनी इन्द्रियों के घोड़ों पर लगाम लगाएँ, उनको इधर-उधर उद्दण्ड भागने से, भटकने से रोकें, जो प्राप्त है उसमें संतोष करें। आगे बढ़ने की आकांक्षा भी बुरी नहीं है पर मर्यादा के अन्दर, अपनी क्षमता के अनुरूप; विचलित न हों। इसके अभ्यास से दूसरी बात निकलती है—प्रत्येक परस्थिति में सम रहने की। यह बहुत बड़ा तप है। जब कोई आपकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करेगा तो क्रोध जागेगा; उसका क्षमा से निवारण करें; जब कोई विपदा पड़ेगी तो दुःख उपजेगा। जन्म से आदत जो पड़ी हुई है! उस समय सहनशीलता से काम लें, धैर्य रखें। संसार में रहेंगे तो सुख-दुःख तो आते-जाते रहेंगे ही।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ *(गीता II-14)*

भगवान् कृष्ण **गीता** में अर्जुन को समझाते हैं कि सर्दी-गर्मी आती है, चली जाती है, अनित्य है; इसलिए हे भारत! तू उनको सहन कर। सुख-दुःख, हानि- लाभ, जय-पराजय को समान समझो (गीता II-38) क्योंकि **समत्वं योग उच्यते** (गीता II-48)। जो कुछ भी कर्म करें उसके फल की इच्छा न करें और जो कुछ फल मिले उसे भगवान् का प्रसाद मानकर उसमें समभाव रखें—इसी का नाम 'योग' है।

तीसरा सुझाव है कि अपनी इच्छाओं को, आवश्यकताओं को यथासम्भव कम करने का प्रयत्न करें—यह भी एक तप है; कितनी कम करें इसका कोई सामान्य मापदण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं यह निर्णय लेना है कि वह अपनी कामनाओं को कहाँ तक सीमित कर सकता है। अधिक इच्छाओं का एक मूल कारण है लोभ; दूसरा—अपने ऐश्वर्य का अभद्र दिखावा; तीसरा—अवांछनीय अहंकार। हमारा यह सामाजिक कर्तव्य भी है कि जितना हो सके हम अपनी आवश्यकताओं को कम करें जिससे दूसरे सदस्यों की भी इच्छाएँ पूरी हो सकें। महात्मा गांधी का कहना है कि वसुंधरा सबकी ज़रूरतों की तो पूर्ति कर सकती है, पर उनके लोभ की नहीं। संसार में आजकल जितनी मार-काट, लूट-मार, भ्रष्टाचार और व्यभिचार बढ़ता जा रहा है, उसका सबसे बड़ा कारण असीमित लोभ और भौतिक साधनों का दुरुपयोग है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, विश्व के एक-तिहाई लोग पृथ्वी की दो-तिहाई सम्पदा का उपभोग करते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर अधिकांश देशों में भ्रष्टाचार का बाज़ार गर्म है और

इसकी चपेट से साधारण जनता का तो कहना ही क्या है, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मन्त्रीगण, राजनीतिज्ञ और अधिकारीवर्ग कोई भी अछूता नहीं रहा है। उच्छृंखल इच्छाओं का तो यह दृश्य है कि किसी के पास 300 जोड़ी जूते हैं तो किसी के पास तीन हजार साड़ियाँ। यदि हममें से प्रत्येक व्यक्ति यह निश्चय कर ले कि कम से कम वह इन तपों को अवश्य अपनाएगा तो हम स्वयं सुखी रहेंगे, समाज सुखी रहेगा और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बल मिलेगा, साथ ही हम ब्रह्मानन्द प्राप्त करने के मार्ग पर पहला पग तो बढ़ा ही लेंगे। यदि हम अपनी लगन के पक्के रहे, और अपने ध्येय को प्राप्त करने में सच्चे रहे तो निश्चय ही परमानन्द की ओर बढ़ते जाएँगे; किस रफ्तार से बढ़ेंगे यह किसी अन्य के हाथ में नहीं, हमारे हाथ में है।

2. कर्म एक तप है

केनोपनिषद् वस्तुतः **सामवेद** का भाग है, इसे **जैमिनी ब्राह्मण** भी कहते हैं। यह बहुत छोटा, केवल चार खण्ड का है, पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। पहले खण्ड में शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि वह कौन है जिसकी प्रेरणा से मन मानो विषयों पर टूटा पड़ता है, आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं इत्यादि। इसके उत्तर में गुरु ने बड़ा रहस्यमय उत्तर दिया और बताया कि साधारणतया लोग जिसकी उपासना करते हैं और उससे तरह-तरह के वरदान माँगते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। जिसे हम जानते हैं, और जिसको हम नहीं जानते हैं, वह भी ब्रह्म नही है। विश्व की जो आधारभूत संचालक शक्ति है वह ब्रह्म है। यों समझें कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की सूचना मन को पहुँचाती हैं, पर इन्द्रियाँ और मन तो जड़ हैं, वे इस सूचना को शरीर के, जगत के, नियंता को देते हैं, आत्मा फिर उस सूचना को वापस लौटा देता है, तब हमें संसार की जानकारी होती है। आत्मा जैसे राजा है, जब वह सूचना पर अपनी मोहर लगाकर मन-रूपी प्रधानमंत्री को देता है तभी हम जगत-व्यापार समझ पाते हैं। वह आत्मा जीव में होती है तो जीवात्मा कहलाती है और जब सृष्टि में रहती है तो ब्रह्म कही जाती है। उसी के प्रकाश में सब-कुछ हो रहा है, अन्यथा सब जड़ है, शून्य है।

एक जाननेवाला होता है, दूसरा जो जाना जाता है, तीसरी जानने की क्रिया। इसी तरह एक द्रष्टा होता है दूसरा दृश्य और तीसरी देखने की क्रिया आदि जब

तीनों का अन्तर मिट जाता है, यह त्रिपुटी एक हो जाती है, तीनों का भेद समाप्त हो जाता है, कोई कोलाहल नहीं रहता, केवल एक मूक, शान्त, परम प्रज्ञा व्याप्त रहती है, तब ब्रह्म का आभास होता है। वह केवल एक चेतना है, ऐसी चेतना जहाँ इस चेतना के अतिरिक्त और कोई अन्य चेतना नहीं होती। यदि हमें भिन्नता का भान रहता है, वृत्तियाँ उदय-विलय होती हैं, विचार आते हैं और जाते हैं तो अखण्डता, अनन्तता, असीमता, सर्वज्ञता तो रही नहीं और न आत्मज्ञान अनुभव हुआ। ऋषि कहते हैं—जो यह कहता है कि उसको नहीं जान सका, उसने 'उसे' जान लिया है; जो यह समझता है कि उसने 'उसे' जान लिया है वह उसको नही जानता।

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ *(II-3)*

जो यह कहता है कि वह उसको नहीं जानता वह कम से कम यह भूल तो नहीं करता कि जो कुछ उसने जाना है, समझा है वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि परम शान्ति, परमानन्द, बुद्धि-विलास का विषय है ही नहीं। न तो वह इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है और न मन द्वारा। 'वह' दोनो की पकड़ के परे की सत्ता है, और वह उसको अन्तःप्रज्ञा द्वारा जानने का प्रयास जारी रखेगा। जो 'उस' को जान गया है वह यह कहेगा नहीं कि 'मैं उसको जानता हूँ।' वह तो जीवनमुक्त अवस्था को पहुँच गया और उसके लक्षणों से, उसके व्यवहार से ही हम यह अनुमान लगा सकते हैं—वह इन्द्रिय-विषयों की ओर आँख उठाकर नहीं देखेगा, उनमें उसको कोई रस नहीं आएगा। जिसने अमृतपान किया हो वह गन्ने के रस की ओर क्यों लालायित होगा! उसके लिए अब न कुछ पाना है न खोना है, वह हर हाल में स्थितप्रज्ञ रहेगा। जीवनयापन के लिए जो मिल जाए वह ठीक है, क्योंकि ऐसे भाग्यवान् का योगक्षेम वहन करने का भगवान् ने आश्वासन दिया हुआ है। उसके सामने न तो मान-मर्यादा का कोई महत्त्व है और न उसे तिरस्कार-अनादर से कोई खिन्नता होती है। स्थितप्रज्ञ की भगवान् कृष्ण ने गीता में बड़ी सुन्दर व्याख्या की है।

जिसने सच्चे ज्ञान का थोड़ा भी स्वाद ले लिया है उसकी एक और पहचान है—वह अपने और 'दूसरों' में कोई अन्तर नहीं समझता, सर्वत्र एक ही आत्मा के दर्शन करता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस की जीवनी में क्रिस्टाफर ईशरवुड लिखते हैं कि एक बार उनके परमभक्त माथुर महाशय उनको उत्तरी-पश्चिमी भारत के तीर्थों की यात्रा पर ले गए देवगढ शिवमन्दिर के गाँव में दीन-दुखियों

की हालत देख परमहंस जी द्रवित हो उठे। माथुर से बोले : ''तू कम से कम इन सबको एक समय भोजन करा दे और उनको एक-एक वस्त्र दे दे।'' माथुर आना-कानी करने लगे तो रामकृष्ण जी ने ताड़ना दी : ''तू तीर्थयात्रा पर जा, मैं तो इन्हीं के बीच रहकर इनके सुख-दुःख में शरीक होऊँगा।'' माथुर ने तुरन्त उनके आदेश का पालन किया। परमहंस जी ने सबके साथ अत्यन्त अन्तरंग सान्निध्य स्थापित कर लिया था। एक बार वह दक्षिणेश्वर मन्दिर की छत पर खड़े गंगा का दृश्य देख रहे थे। एक माँझी नाव चला रहा था, तभी न जाने किस बात पर उसका स्वामी माँझी को बेंत से मारने लगा। यह देखकर परमहंस जी कराहने लगे और नीचे उतर आए। उनके शिष्यों ने देखा—उनकी पीठ पर बेंत की मार के निशान पड़े हुए थे।

भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं : वह चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है। वह इतना सूक्ष्म है, इतना सूक्ष्म है कि अविज्ञेय है, जाना नही जा सकता, अतिदूर और समीप भी वही है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ *(XIII-15)*

इसकी व्याख्या करते हुए **स्वामी शिवानन्द** कहते हैं कि ''उस जैसा कोई दूसरा नहीं है। वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता, और मन की पकड़ से भी परे है। वह अकर्ता है, अदृश्य है, पर सबका द्रष्टा है।'' **स्वामी रामसुखदास** ने और भी बारीक बात कही है, उनका मत है कि वह 'सत्' भी नहीं कहा जा सकता। जैसे दिन की चर्चा रात की तुलना में की जाती है, उसी तरह 'सत्' भी 'असत्' की सापेक्षता में ही कहा जा सकता है; पर 'असत्' तो कुछ है नहीं, केवल एक 'सत्' का ही सर्वत्र साम्राज्य है। अतः ऋषियों-मुनियों तथा सन्त-समाज ने, जिन्होंने उसको जान लिया है, अनुभूति पर उतारा है, वे विभिन्न युक्तियों द्वारा हमें ब्रह्म का परिचय देने का प्रयत्न करते हैं। हमें विश्वास है कि इतने विशद विवेचन के बाद हमें अवश्य ही 'उस' का आभास हो ही गया होगा। इस संदिग्ध आधार पर, पुरुषार्थ द्वारा हम 'उस' को अनुभव करने का प्रयास-भर तो कर ही सकते हैं।

केनोपनिषद् के तृतीय तथा चतुर्थ खण्डों में एक उपाख्यान द्वारा ब्रह्म की महती महिमा को बताने का प्रयत्न किया गया है। कथा इस प्रकार है—देवासुर-संग्राम में देवताओं की विजय हुई और इस विजय से देवगण फूले नहीं समा रहे थे। सब-के-सब अपनी वीरता का बखान करते नहीं थकते थे और 'ब्रह्म' को

जो उनकी विजय के स्रोत थे, भूल ही गए। उनको पाठ पढ़ाने के लिए ब्रह्म एक यक्ष का रूप धारण कर देवताओं के पास पहुँचे। नए आगन्तुक को देख, देवताओं ने अग्नि को इसका परिचय प्राप्त करने के लिए भेजा। अग्नि तुरन्त यक्ष के पास पहुँचा। यक्ष ने पहले ही पूछ लिया, "तू कौन है?" अग्नि ने उत्तर दिया, "मैं अग्नि हूँ, जातवेदस् हूँ।" यक्ष ने फिर प्रश्न किया, "तुझमें क्या शक्ति है?" अग्नि ने उत्तर दिया, "मैं सब-कुछ जला सकता हूँ, उसको राख कर सकता हूँ।" यक्ष ने अग्नि के सामने एक साधारण तिनका रख दिया और कहा, "तू इसको जलाकर दिखा।" अग्नि देवता यह सोचकर हँसे कि इस तिनके को तो वह एक लपट में भस्म कर देंगे, पर वह तो उस तिनके को भरपूर शक्ति लगाने पर भी झुलसा तक न सके और अपना-सा मुँह लेकर देवताओं के पास लौटकर सारा वृत्तान्त सुना दिया।

देवताओं ने फिर वायु को भेजा। अपनी शक्ति का बखान करते उसने यक्ष से कहा कि यदि वह चाहे तो पृथ्वी में जो कुछ है वह सब-कुछ समेटकर उड़ा ले जाए। यक्ष ने फिर वही तिनका दिखाते हुए कहा : "तू इसको ही उड़ाकर दिखा।" वायु ने बड़ा भयानक बवंडर उत्पन्न किया पर वह तिनके को हिला तक न सका और लौटकर अपनी असमर्थता का हाल देवताओं को सुनाया। सब चकित रह गए और उन्होंने अपने राजा इन्द्र से यक्ष का पता लगाने को भेजा। जैसे ही इन्द्र वहाँ पहुँचे, यक्ष अन्तर्धान हो गया। उसको ढूँढते-ढूँढते इन्द्र को उमा नाम की देवी मिली (उमा का अर्थ है 'बुद्धि', प्रत्येक देवता की 'शक्ति' तथा 'बुद्धि' का प्रतीक एक नारी के रूप में ही माना गया है) और उन्होंने बताया कि यक्ष ब्रह्म ही थे जिनके कारण देवता विजयी हुए, पर क्योंकि उनको अपनी विजय पर गर्व हो गया था इसलिए उनके घमण्ड को चूर करने के लिए उन्होंने यह नाटक किया।

यह कथा भी सांकेतिक है, प्रतीकमात्र है। इन्द्र तो जीवात्मा है, अग्नि दृश्य जगत तथा वायु अदृश्यमान भौतिक तत्त्व है। दोनों अचेतन हैं, जड़ हैं; केवल जीवात्मा ही चेतन तत्त्व है। उपाख्यान का तात्पर्य यह है कि दृश्य तथा अदृश्य तत्त्व जो कुछ भी हैं वे जड़ है। इन सबकी स्थिति केवल चेतन तत्त्व के कारण है। सब-कुछ उसी से अनुप्राणित है, क्रियाशील है। अतः हमें उसी आत्मा को जानने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। वही तत्त्वज्ञान है। आज के युग में 'ज्ञान' को 'फिलॉसफी' कहते हैं और विज्ञान को 'साइन्स'। जब दोनों का समन्वय होता है तभी 'सत्' उदय होता है। इस उपनिषद् का यह संदेश माना जा सकता है कि हमारे जीवन की आधारशिला 'तप', 'दम' और 'कर्म' के ऊपर ज्ञान और विज्ञान की इमारत खड़ी है और इनके समन्वय में ही मानव-जाति का कल्याण है।

1. प्राण और रयि की व्याख्या

किसी गृहस्थ ने एक दार्शनिक से पूछा : ''आनन्द कहाँ मिल सकता है ?'' उसने उत्तर दिया : ''आनन्द अपने अन्दर पाना तो कठिन है, पर बाहर पाना भी असम्भव है।'' बाहर तो यह सारा इन्द्रिय-जन्य जगत है, विषयों का विस्तार है, सगे-सम्बंधियों, मित्र-मण्डली का साथ है, अन्दर हाड़-मास-मज्जा आदि के अतिरिक्त, सूक्ष्म अन्त:करण—मन-बुद्धि-चित्त-अहकार है, भावनाओं की विभिन्न वृत्तियाँ हैं, संस्कार हैं, प्राण है, आत्मा है। यह शरीर जैसे उस आत्मा का मन्दिर है और उसको साफ-सुथरा, हृष्ट-पुष्ट रखना हमारा कर्तव्य है, साथ ही हमको अपने अन्त.करण को शुद्ध रखना भी परमावश्यक है। प्राय देखने में आता है कि हम अपने शरीर को स्वच्छ एवं सुगंधित रखने मे तो बहुत समय लगाते हैं पर यदि हमारे मन में गंदे विचार उठ रहे हैं तो हमें उनकी दुर्गंध लेशमात्र विचलित नहीं करती; कभी-कभी तो हम उनको पोषित करने में भी नहीं हिचकिचाते, अपितु रस लेते हैं। इसी तरह ममता, मोह, मत्सर, लोभ आदि विकारों को तो हम अपने व्यक्तित्व का अंग मान बैठे हैं। यदि संसार में रहते हैं तो क्रोध-लोभ-मोह तो होगा ही। पर ये सब आनन्द के शत्रु हैं। कृपया ध्यान दें, जब आपको क्रोध आता है या ईर्ष्या होती है तो सबसे पहले तो आप स्वयं पीड़ित होते हैं, अन्दर ही अन्दर जैसे आग जल रही है, और फिर आस-पास के लोगों को, सारे वातावरण को दूषित करते हैं। ऐसी स्थिति में 'आनन्द' तो पलायन कर ही जाएगा, इसलिए इन विकारों को तो दूर करना ही होगा जो आसान नहीं है। इसीलिए उस दार्शनिक ने कहा : ''अपने अन्दर आनन्द पाना कठिन है'', पर दूसरा कोई विकल्प भी तो नहीं है क्योंकि अन्यथा आनन्द पाना असम्भव है।

प्रश्नोपनिषद् में आत्मा को, ब्रह्म को, आनन्द को पाने के लिए आन्तरिक स्वच्छता पर पग-पग पर बल दिया गया है। यह उपनिषद् भी **मुण्डक** और [illegible] की तरह **अथर्ववेद** का भाग है इसमें **ब्रह्मविद्या** जैसे गूढ

विषय को पद्य में बड़ी मनोरजक प्रश्नोत्तर-शैली में समझाया गया है। हमारे ऋषि-मुनि संचारण-कला में पारंगत थे और बड़े से बड़े दुर्बोध विषय को अत्यन्त दिलचस्प तरीके से जनता तक पहुँचाने मे निपुण थे। एक हम हैं कि तिरेपन वर्षो में परिवार-नियोजन को लोकप्रिय नहीं बना सके। हम संचारको, लेखकों को उन मनीषियो से कुछ सीखना चाहिए। उनकी शैली में मुझे दो मुख्य बाते दिखाई देती हैं—एक तो वे अधिकांशतः कहानी, उपाख्यान आदि का सहारा लेते थे; दूसरे, वे जो सब जानते हैं वहाँ से आरम्भ कर, शनैः-शनैः जो हम नहीं जानते, या जिसे हम स्वीकार नहीं करते, उसके महत्त्व को प्रतिपादित करते थे। उनका विषय इतना रहस्यमय होता था कि उनको सांकेतिक, प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लेना आवश्यक था और पाठकों से जो वे कहते हैं उसे ज्यों-का-त्यों न मानकर, प्रतीक को विघटित करना ज़रूरी है।

उस युग में हस्तलिखित पुस्तकें बहुत कम थीं। शिक्षा गुरुओं द्वारा दी जाती थी। जो गुरु कहते थे उसका बड़ा मूल्य था और उनके मुख से निकले एक-एक शब्द को दत्तचित्त होकर सुना जाता था। छह जिज्ञासु, प्रत्येक एक-एक प्रश्न पूछने, **पिप्पलाद** ऋषि के पास पहुँचे और निवेदन किया कि वे उनसे कुछ प्रश्न पूछना चाहते हैं। आचार्य पिप्पलाद ब्रह्मनिष्ठ थे। उन्होंने देख लिया कि युवक अभी कच्चे हैं, अतः आदेश दिया कि वे सब उनके साथ रहकर एक वर्ष तक और तप करें, तदुपरांत अपने-अपने प्रश्न पूछे और यदि उनको उत्तर मालूम होगा तो वे अवश्य बताएँगे। इससे इतने महान् आचार्य की नम्रता का पता चलता है। गुरु ने उनसे 'तप', ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा का अभ्यास करने को कहा।

ये तीनों आन्तरिक शुद्धि के साधन हैं। शरीर की साधना, इन्द्रिय-निग्रह का नाम 'तप' है। मन पर नियंत्रण करना, उसको इधर-उधर-भटकने, संकल्प-विकल्प मे न उलझने की साधना 'ब्रह्मचर्य' कहलाती है; स्त्री-पुरुष के बारे में न सोचना, उनके साथ बातचीत या क्रीड़ा न करना, उनसे एकान्त में मिलने की इच्छा न करना आदि, ये भी ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आते हैं। तर्क-वितर्क के झमेले मे न पड़कर, गुरु में विश्वास कर सत्य की खोज में अडिग रहना 'श्रद्धा' की साधना है। **केनोपनिषद्** में ब्रह्मज्ञान के लिए 'तप', 'दम' और 'कर्म' ये तीन आवश्यक बताए गए है। 'तप' शारीरिक साधना, 'दम' मानसिक साधना जिसमें ब्रह्मचर्य भी शामिल है, और 'कर्म' का अर्थ 'निष्काम कर्म' है जिसकी साधना से श्रद्धा की पुष्टि होती है।

एक वर्ष के बाद पहले जिज्ञासु कबन्धी ने ऋषि से पूछा—भगवन्, सृष्टि किससे उत्पन्न हुई—**कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते** (I-3)? यह प्रश्न

कितने ही उपनिषदों में बार-बार उठाया जाता है, इससे पता चलता है कि जिज्ञासुओं को स्रोत के खोज की गहरी ललक थी, वे उद्गम को जानने के बड़े इच्छुक थे, कोई भी परिस्थिति स्वीकार करके नहीं चलते थे। आचार्य ने बताया कि प्रजापति ने गहन चिन्तन के बाद 'मिथुन' को, जोडे को, द्वित्व को सृष्ट किया और उससे सृष्टि का प्रसार हुआ। वह जोड़ा 'आदम' और 'ईव' का नहीं था, 'प्राण' और 'रयि' का था। 'प्राण' धन-शक्ति (पॉजिटिव) है और रयि 'ऋण-शक्ति' (नेगेटिव)। 'प्राण' सूर्य है, अग्नि है, अन्न है, कार्य करने की प्रेरणा देनेवाला है। 'रयि' चन्द्र है जो पृथ्वी के रसों द्वारा वनस्पति तथा औषधों को उत्पन्न करता है। प्राण अथवा सूर्य भोक्तृ-शक्ति है, रयि या चन्द्रमा भोग्य-शक्ति है। दोनों सापेक्षिक शब्द हैं और प्रत्येक वस्तु में प्राण तथा रयि का सम्मिश्रण है। सारा संसार भोग्य होने के कारण 'रयि' है और ब्रह्म इस संसार को भोगनेवाला होने से 'प्राण' है। सूर्य ऊर्जा है और चन्द्रमा भौतिक तत्त्व है। जो कुछ भी स्थूल है, दिखाई देता है, नाम-रूपात्मक है, और जो सूक्ष्म हे, नहीं दिखाई देता, दोनो ही भौतिक हैं। **पिप्पलाद ऋषि** का मत आजकल के वैज्ञानिको के मत से मेल खाता है। यह सूर्य छह मास उत्तरायण और छह मास दक्षिणायन अथवा दक्षिण दिशा में जाता हुआ दिखाई देता है। आचार्य काव्यमय ढंग से बताते हैं कि सूर्य के पाँच पैर—ऋतुएँ— हैं, और बारह पुत्र अथवा महीने हैं। यह द्युलोक में सात घोड़ों के रथ पर सवार होकर यात्रा करता है। इसके रथ में छह-छह अरों वाले सात पहिए हैं जो इन्द्रधनुष जैसी सतरंगी किरणें हैं। **स्वामी शिवानन्द** का कहना है कि सूर्य के पाँच पद, पाँच वायु—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान है, छह अरे चार वेद, क्षत्रज्ञ और ब्राह्मण हो सकते हैं, और सात घोड़ों से सात चक्रो का अभिप्राय हो सकता है जिनके द्वारा निकलता हुआ प्राण सहस्रार तक पहुँचकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। शुद्ध निर्मल ब्रह्मलोक तो उनका ही है जिनमें कुटिलता नहीं, विकार नहीं, उत्तेजना नहीं और जिन्होंने माया के मर्म को जान लिया है।

दूसरा प्रश्न भृगुगोत्र में उत्पन्न वैदर्भि ने पूछा कि प्रजा उत्पन्न होने के बाद कौन देव इसका पोषण करते हैं, इसको धारण करते हैं, किस शक्ति के कारण यह सृष्टि विकसित हुई? **पिप्पलाद ऋषि** ने बताया कि सृष्टि या तो जड़ है या चेतन। यह पंचमहाभूत—आँख, कान, वाणी तथा मन के आधार पर टिकी हुई है, और उन सबका आधार है प्राण—**'तान् वरिष्ठः प्राणः'** (II-3)। प्राण ही अग्नि के रूप में ताप दे रहा है और प्राण ही सूर्य के रूप में प्रकाश दे रहा है, प्राण ही पृथ्वी के रूप में आश्रय दे रहा है, और प्राण ही रयि के रूप में भोग्य-जगत को उत्पन्न कर रहा है। 'रयि' न हो तो प्राण रह सकता है, पर यदि प्राण न हो तो रयि

नही रह सकती। भोक्ता की ही यथार्थ सत्ता है, भोग्य की नहीं। ऋषि एक उदाहरण द्वारा इस भाव को और स्पष्ट करते है। वह कहते हैं · रथ के चक्कों की नाभि में जैसे अरे जुड़े रहते हैं, वैसे ही प्राण भी सब मे स्थित है। इस तरह **पिप्पलाद ऋषि** ने कितने ही मन्त्रों में प्राण की महिमा का गुणगान किया है।

छान्दोग्योपनिषद् के सातवें खण्ड में 'प्राण' की विशद व्याख्या की गई है और उसको पहिए की नाभि में अरों के साथ समान ही बताया गया है (VII-15 1)। उस प्रपाठक में भगवान् सनत्कुमार नारद मुनि को 'भूमा' (ब्रह्म) तक पहुँचने का मार्ग बताते हुए उपदेश देते है कि उस मार्ग पर चलने के लिए 'नाम' से आरम्भ करना चाहिए और फिर वाणी, मन, संकल्प, चित्त आदि की साधना करते हुए 'प्राण' तक पहुँचना चाहिए, उसी को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो। सब-कुछ प्राण के सहारे चल रहा है, प्राण को लक्ष्य मे रखकर चल रहा है, प्राण के लिए चल रहा है, प्राण ही आत्मा है, ब्रह्म है (VII-15 1)। प्राण से साधारण वायु का अभिप्राय नही है जो श्वासोच्छ्वास क्रिया में काम आती है। 'प्राण'-वायु का कैसे उपयोग किया जाए, यह हमने अपनी पुस्तक **जीने की कला** में भली-भाँति समझाया है।

2. ब्रह्म का निवास कहाँ है ?

भारत के प्राचीन काल के जिज्ञासुओं की बात ही निराली थी। उनमे तप, दम और श्रद्धा भरपूर पाई जाती थी। वे किसी तथ्य को केवल मानने से संतुष्ट नही होते थे, उसको जानना भी चाहते थे और उनमें कितने ऐसे भी थे जिन्हे जानने का प्रयोजन यही था कि जो माना है, जाना है, उसको जीएँ, जीवन मे, व्यवहार में उतारें। इसलिए उन दिनों ब्रह्म-विद्या को 'दर्शन' कहा जाता था— ऐसी विद्या जिसे अपने अनुभव के आधार पर प्रत्यक्ष देखा जा सके, जीया जा सके। यूनान जैसे देशो में भी शिक्षा का आज-जैसा विभाजन नहीं हुआ था। कितने ही मानविकी विषय भी 'दर्शन-शास्त्र' के अन्तर्गत ही आते थे। हो सकता है उस समय मानव-जीवन अपेक्षाकृत सीधा-सादा था, भाग-दौड़ कम थी, इच्छाएँ, कामनाएँ, आकांक्षाएँ सीमित थीं और ऐसे ही लोग ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की ओर अग्रसर होते थे। आज के युग मे तो जैसे भौतिकवाद का भूत छाया हुआ है। पुराने मूल्यों की, आदर्शों की खुल्लमखुल्ला अवहेलना हो रही है। अधिकाश

जनता धन-वैभव को पाने के लिए कोई भी समझौता करने को तैयार हैं। सारे संसार में भ्रष्टाचार और व्यभिचार का बाज़ार गर्म है। गोलमाल और घूसखोरी की नित-नई कहानियाँ सुनी और पढ़ी जाती हैं। ऐसे निष्कृष्ट पतन-काल में उपनिषदों के सार्वभौमिक संदेश को जन-जन तक पहुँचाना, लोकप्रिय बनाना अत्यन्त आवश्यक है। बुराई जल्दी फैलती है, अच्छाई के प्रसार में समय लगता है, पर यदि कुछ प्रतिशत लोग भी सुमार्ग पर चल पड़ें तो हम अपना प्रयास सफल मानेंगे।

कबन्धी के सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न के बाद वैदर्भि के दूसरे प्रश्न के उत्तर में **पिप्पलाद ऋषि** ने 'प्राण' की महती महिमा का बखान किया। अब कौसल्य का यह प्रश्न था कि प्राण जो सब पदार्थों को धारण करता है, उसको कौन उत्पन्न करता है, वह शरीर में कैसे आता है, किस प्रकार स्थित रहता है, कैसे निकलता है तथा बाह्य संसार और शरीर में आत्मा को कैसे धारण करता है? एक मुमुक्षु के लिए तो ये सब प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और आचार्य ने बहुत विस्तार से उनका उत्तर दिया। हमें भी उनकी जानकारी प्राप्त करना अच्छा ही है, पर हम उन्हीं बातों पर विशेष ध्यान देंगे जिनसे हम व्यावहारिक रूप से कुछ लाभ उठा सकें। जैसे हमारी समस्त इन्द्रियों—'उन्नीस मुख'—का प्राण-बिना कोई अस्तित्व नहीं है, उसी तरह 'आत्मा' न हो तो प्राण का भी कोई महत्त्व नहीं है, अर्थात् प्राण की उत्पत्ति आत्मा से ही है। मन और प्राण के सोपान द्वारा आप आत्मा तक पहुँच सकते हैं। हमारे सारे संस्कार, संचित कर्म मन के सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित रहते हैं। मृत्यु के समय हमारा स्थूल शरीर तो समाप्त हो जाता है, पर अफलित कर्मों का सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है और ऐसे नवीन शरीर की खोज में रहता है जिसके द्वारा उसकी अपूर्ण आकांक्षाओं तथा शेष कर्मों का लेखा-जोखा पूर्ण हो सके। 'प्राण' जीव के पूर्व-कर्मों के आधार पर उपयुक्त शरीर में प्रवेश करता है। यह तथ्य हमारे लिए बहुत महत्त्व का है क्योंकि इससे सिद्ध होता है कि हमें अगला जन्म कहाँ मिलेगा, यह हमारे हाथ में है। हम जैसा करेंगे वैसा भरेंगे, और यदि कुछ कर्मों का फल मिलना बाकी रह गया है तो ऐसे स्थान में जन्म होगा जहाँ उनकी पूर्ति में आसानी हो। एक फ़ारसी के शायर हाफ़िज़ ने कहा है :

गन्दुम अज़ गन्दुम बिरोयद जौज़-ए-जौ।
अज़ मकाफ़ाते-अमल ग़ाफ़िल मशौ॥

अर्थात् गेहूँ बोओगे तो गेहूँ काटोगे, जौ बोओगे तो जौ, इसलिए अपने कर्मों के प्रति कभी उदासीन न होना, सदा सतर्क रहना। जब भीष्म पितामह **महाभारत**

के युद्ध में शरों की शय्या पर पड़े थे तो उन्होंने भगवान् कृष्ण से पूछा : हे वासुदेव, मैंने इस जन्म में तो कोई बुरा कर्म किया नहीं, और मैंने पिछले 26 जन्मों का भी अवलोकन कर लिया है, उनमें भी मैंने कोई ऐसा पाप-कर्म नहीं देखा जिस कारण मुझे इतनी घोर यातना भुगतनी पड़ रही है? श्री कृष्ण ने भी ध्यान लगाकर उनके पिछले जन्मों का निरीक्षण किया और बताया कि 26वें जन्म के पिछले जन्म में उन्होंने एक कीड़े को आहत कर उसको काँटों के झाड़ में फेंक दिया था और वह कितने ही दिनों बाद तड़प-तड़पकर मरा था। उनकी वर्तमान स्थिति उसी दुष्कर्म का परिणाम है। जीवन एक निरन्तरता है, एक नदी के समान बहता रहता है और सागर से मिलने पर ही उसका जीवन समाप्त होता है। अतः, हम क्या विचार कर रहे हैं, क्या कर्म कर रहे हैं—इसके बारे में अत्यन्त जागरूक रहना है। प्राण शरीर में पाँच विभागों द्वारा काम करता है, जो उसके मुख्य अंग हैं। वे हैं प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। प्रत्येक का अपना-अपना कार्यक्षेत्र है। जैसे **समान** नाभि में स्थित रहता है और पाचन-क्रिया द्वारा सारे भोज्य पदार्थों को सम करके, एकरस बनाकर—सारे शरीर में पहुँचाता है जिसके द्वारा सात ज्योतियाँ जग उठती हैं—**सप्तार्चिषो भवन्ति** (III-5)। ये सात ज्योतियाँ हैं—दो आँख, दो कान, दो नथुने और एक मुख। **स्वामी शिवानन्द जी** उनको काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी तथा विश्वरुचि भी बताते हैं। **पिप्पलाद ऋषि** आत्मा का निवास हृदय में बताते हैं और सारे शरीर में जाल की तरह फैली नाड़ियों की चर्चा करते हैं। डॉक्टर होने के नाते **स्वामी शिवानन्द** जी उन नाड़ियों की कुल संख्या बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख के लगभग (72,72,101,01) बताते हैं। शरीर से निकलते समय प्राण अपने 'तेज' और 'चित्त' को साथ लेकर जाता है और शरीर में रहते हुए इसका जैसा तेज और चित्त हो चुका होता है वह वैसे ही लोक में जाता है। प्राण के साथ-साथ आत्मा भी चली जाती है; प्राण आत्मा की जैसे छाया है और दोनों सदा साथ रहते हैं।

चौथे प्रश्न में गार्ग्य पूछते हैं : "भगवन्! कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, किसे सुख होता है, ये सब किसमें प्रतिष्ठित है, कौन इन सबका आधार है?" **पिप्पलाद ऋषि** ने समझाया कि सूर्यास्त के समय, सब किरणें सिमटकर एक हो जाती हैं। जब सूर्य फिर उदय होता है, वे भी दिग्दिगन्त में चल पड़ती हैं, उसी तरह यह सब-कुछ मन द्वारा होता है। मनरूपी सूर्य की, इन्द्रियाँ किरणें हैं। मन के अस्त होने—अर्थात् सोते समय—ये सब मन में सिमट जाती हैं और जागने पर वे पुनः कार्यरत हो जाती हैं। स्वप्नावस्था मे कभी-कभी मन बहुत गहराई में चला जाता है और पिछले जन्मों के संस्कारों को भी जगा देता

है, और सुषुप्ति में तो हम कारण-शरीर का भी स्पर्श कर लेते हैं। इसकी विशद व्याख्या हम **माण्डूक्योपनिषद्** के अध्यायों में कर चुके हैं। वहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'सुषुप्ति' तथा 'समाधि' दोनों अवस्थाओं में जीव तथा ब्रह्म एक-दूसरे के सम्पर्क में आ जाते हैं। सुषुप्ति दशा ऐसी है जैसे कोई राजा के पास बैठा सो रहा हो और उसे राजा की विभूति का भान न हो। समाधि में वह राजा के पास बैठा जाग रहा होता है और उसे राजा के ऐश्वर्य का पूरा ज्ञान होता है।

शैव्य सत्यकाम के पाँचवें प्रश्न के उत्तर में **पिप्पलाद ऋषि** ओम्, ओंकार, प्रणव का विवेचन करते हैं। ओम् 'अ', 'उ' और 'म्' से मिलकर बना है। आचार्य प्रत्येक मात्रा पर ध्यान करने की विधि तथा उसका फल विस्तार से समझाते हैं। **श्री अरविन्द** ने भी इस पर टिप्पणी की है, पर हम-जैसे साधारण समझवालों के लिए सम्पूर्ण ओं पर ही ध्यान लगाना सम्भव होगा। ओं परब्रह्म परमात्मा का प्रतीक है, उसका निवास है और उसके चिन्तन द्वारा हम शान्त, अमर एवं अजर बन सकते हैं। ओं की व्याख्या निम्न प्रकार से करने से हम उसका विशाल रूप और भी आसानी से हृदयङ्गम कर सकते हैं :

'अ' ब्रह्मा (उत्पादक शक्ति)	'उ' विष्णु (पोषक शक्ति)	'म्' महेश या शिव (मारने तथा भला करने की शक्ति)
सृष्टि	स्थिति	प्रलय
सत्	चित्त	आनन्द
शरीर	मन	आत्मा
विराट रूप	भावना जगत	प्राज्ञ रूप
अस्ति	भाति	प्रिय
स्थूल	सूक्ष्म	कारण
उत्पन्न	गति	लय
व्यवहार	प्रतिभास	परमार्थ
ऋक्	यजु	साम

साथ ही यह तो आप जानते ही हैं कि ओं नाम-रूप से परे, निष्प्रपंच है। उपर्युक्त विश्लेषण ओंकार को ब्रह्म को समझने का साधन-मात्र है।

छठा और अन्तिम प्रश्न ब्रह्म पर ही आकर समाप्त होता है और छठा शिष्य सुकेशा भारद्वाज पूछता है : "हे भगवन्! वह सोलह कलाओं वाला पुरुष कहाँ

है ?" ब्रह्म की यदि पुरुष के रूप में कल्पना करें तो उसकी सोलह कलाओं से ही ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड का निर्माण हुआ है। इस मन्त्र में पुनः सृष्टि की उत्पत्ति एवं विस्तार की सोलह कला कहकर व्याख्या की गई है। वे सोलह-कलाएँ हैं—'प्राण', 'श्रद्धा', 'पृथ्वी'-'जल'-'अग्नि'-'वायु' और 'आकाश' के पाँच महाभूत, उनसे उत्पन्न 'इन्द्रियाँ'; 'मन' और 'अन्न', क्योंकि इन्द्रियों का अस्तित्व मानसिक दृष्टि से मन और शारीरिक दृष्टि से अन्न पर निर्भर है; अन्न का वास्तविक तत्त्व है 'वीर्य'। इन ग्यारह कलाओं द्वारा जब शरीर की रचना सम्पन्न हो जाती है तब मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक 'कर्म' करने के योग्य होता है। उसका शारीरिक कार्य 'कर्म' है और मानसिक है 'मन्त्र'। कर्म तथा मन्त्र के अतिरिक्त सृष्टि में नाम-रूप होते हैं। इनमें रूप को ऋषि ने 'लोक' कहा है और नाम को 'नाम' ही रहने दिया है। अर्थात्, 'उस' की सोलह कलाएँ 'प्राण' से आरम्भ होती हैं जिसे ब्रह्म ने सबसे पहले बनाया। प्राण से अन्य पन्द्रह कलाओं का सर्जन हुआ—वे हैं श्रद्धा, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। कला का अर्थ है अंश। कल्पित ब्रह्म ने इन सोलह कलाओं से ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड दोनों का निर्माण किया और वह सारी कलाओं के साथ पिण्ड—शरीर—में वास करता है। **ऋषि पिप्पलाद** स्पष्ट करते हैं कि उस ब्रह्म की खोज में हमें कहीं बाहर नहीं जाना है, वह हमारे अन्दर, प्रत्येक प्राणि के अन्दर प्रतिष्ठित है : **इहैवान्तः शरीरे, सोम्य! स पुरुषः** (II-2)।

पाँचवें मन्त्र में आचार्य एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं—जैसे सारी नदियाँ बहते-बहते सागर की ओर जा रही हैं, और जब वे सागर में मिल जाती हैं, तब उनका अलग-अलग नाम-रूप समाप्त हो जाता है और वे सब सागर ही कहलाती हैं, उसी प्रकार द्रष्टा ब्रह्म की सोलह कलाओ वाला यह मानव, ब्रह्म की ओर ही चल रहा है और उसमें लीन होने के बाद उनका पृथक् अस्तित्व छिन्न-भिन्न हो जाएगा और वे परमानन्द प्राप्त कर लेंगे। **स्वामी शिवानन्द** एक और सुझाव देते हैं। उनका कहना है कि सोलह कलाओं में प्रत्येक को नेति-नेति—ब्रह्म यह नही है, यह भी नहीं है—कहकर यह समझना चाहिए कि यह केवल कल्पित ब्रह्म के कल्पित अंश है, ब्रह्म तो इन सबसे निराला है।

1. संसार-चक्र से छुटकारा

अब तक हम आनन्द की खोज में उपनिषदों की चर्चा करते आए हैं और आगे भी करेंगे, पर इससे पाठकों को ऐसा लग सकता है कि भारतवासी केवल आध्यात्मिक अनुसंधान में ही लगे रहे, उनकी अन्य विषयों में कभी कोई रुचि नहीं रही। वस्तुतः उनकी दिलचस्पी अत्यन्त व्यापक थी—नाटक, उपन्यास, कथा, कहानी आदि साहित्य की अनेक विधाओं में उन्होंने पारंगत होने का प्रमाण दिया है। भारत की कितनी ही कहानियों का विश्व की भाषाओं—जैसे यूनानी, जर्मन, फ्रेंच, अरबी, तुर्की आदि में अनुवाद हो चुका है। कितनी ही पुस्तकें, भारत के ग्रंथों को आधार बनाकर लिखी गई हैं और दिलचस्प बात यह है कि इन लेखकों ने मूल कृति का आभार व्यक्त करना भी आवश्यक नहीं समझा। भारतीय साहित्य के जाने-माने समीक्षक **रॉलिंस** का कहना है कि **ईसप** की बहुत-सी कहानियाँ **पंचतंत्र** से ली गई हैं। अरबी के साहित्यकार **मसूदी** का मत है कि **अरेबियन नाइट्स** के क़िस्से, विशेषकर सिन्दबाद की कहानी, भारत के **सोमदेव** द्वारा रचित **कथा सरित सागर** पर आधारित है। **शुकसप्तति** फ़ारसी में **तूतीनामः** के नाम से लोकप्रिय है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय चिन्तक केवल दर्शन में ही पारंगत नहीं थे, वे ऐहिक विषयों में भी किसी से पीछे नहीं रहे।

विज्ञान एवं दर्शन का तो उन्होंने बड़ा गंभीर अध्ययन किया है। दोनों का छह-छह अंगों में (षड् अंगानि) वर्गीकरण किया हुआ है। विज्ञान के अंग हैं : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। वेदों को ठीक-ठीक समझने के लिए इन विषयों की जानकारी आवश्यक थी। साथ ही हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के लोग तांबे और काँसे जैसी धातुओं का प्रयोग करते थे। भारत में अच्छे किस्म के रत्नों से आभूषण बनाए जाते थे। मनकों में छेद करना, काटना, तराशना तथा चमकाना भी हड़प्पा में खूब होता था। ई०पू० 2200 में लोथल गोदी के निर्माण में जो इंजीनियरी तकनीक का प्रयोग किया गया है वह उस युग

के विश्व में अद्वितीय मानी जाती है। साथ ही, चार प्रकार के सूत्र-ग्रंथ हैं : गृह्यसूत्र, शुल्वसूत्र, श्रौत और जैमिनि सूत्र।

दर्शन की भी छह मुख्य शाखाएँ हैं : न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसा या वेदान्त। न्याय और वैशेषिक आपस में मिलते-जुलते हैं और दोनों सृष्टि की उत्पत्ति अणुओं से मानते हैं। सांख्य दर्शन अत्यन्त बुद्धिसंगत है। इसके प्रस्तुतकर्ता **कपिल मुनि** ईश्वर-सत्ता को विशेष प्रधानता नहीं देते, पुरुष और प्रकृति को प्रधानता देते हैं। योग में ऋषि **पतंजलि** ने ईश्वर को **प्रणिधानम्** के रूप में माना है। पूर्वमीमांसा में मुख्य रूप से कर्मकाण्ड की चर्चा है। वेदान्त एक ब्रह्म को मानता है पर इसकी कई शाखाएँ हो गई हैं। अद्वैतवाद के मुख्य प्रवर्तक आदिशंकराचार्य हैं, विशिष्टाद्वैत वेदान्त के रामानुजाचार्य, द्वैतवाद के माधवाचार्य और त्रैतवाद को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लोकप्रिय बनाया। आदि शंकराचार्य का कहना है—**ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः**—ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है, माया है, आत्मा (जीवात्मा) और ब्रह्म दोनों एक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् जिसकी हम चर्चा करने जा रहे हैं, एक प्रकार से समन्वयात्मक उपनिषद् है। इसमें सांख्य, योग और वेदान्त का समन्वय है; ईश्वर, पुरुष और प्रकृति का समन्वय है; और ब्रह्मा, विष्णु, महेश का समन्वय है। कहीं-कहीं इसकी व्याख्या में **सांख्य कारिका** की व्यंजना प्रतीत होती है; यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्म के बजाय जीवात्मा में विद्यमान ईश्वर पर अधिक बल देता है और माया को रुद्र की क्रियात्मक शक्ति मानता है। यह उपनिषद् **कृष्ण यजुर्वेद** का भाग है और इसमें केवल 113 मन्त्र हैं। फिर भी इसको बहुत महत्त्वपूर्ण उपनिषद् माना जाता है। इसके रचयिता **ऋषि श्वेताश्वतर** अवश्य ही कोई कवि रहे होंगे क्योंकि इसमें अत्यन्त गहन विषय को अनूठी एवं सुन्दर उपमाओं द्वारा समझाया गया है। वे अवश्य ही शिव अथवा रुद्र के भक्त थे, क्योंकि वे रुद्र से ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानते हैं। **श्वेताश्वतर** का अर्थ है जो इन्द्रियों के अश्व को काबू में रख सके। इसलिए यह योग की कर्म, भक्ति और ज्ञानयोग के रूप में व्याख्या करता है।

हम कहाँ से आए, सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, किसने उत्पन्न की—ऐसी जिज्ञासा से उपनिषद् का श्रीगणेश होता है और यह आठ सम्भव विकल्पों पर विचार करता है जिससे पता चलता है कि उस युग के मनीषी कितना गहन और निष्पक्ष चिन्तन करते थे। उन कारणों में एक 'नियति' अथवा भाग्य भी है, और उससे बिल्कुल उल्टा 'यदृच्छा' है—कोई नियत नियम नहीं, सब-कुछ ऐसे ही हो गया, और हो रहा

है। आजकल अधिकांश लोग इसके ही पक्षधर प्रतीत होते हैं—क्या आवश्यकता है किसी सत्ता को मानने की ? सृष्टि का न कोई आदि है, न अन्त। सृष्टि का 'स्वभाव' है होना, और वह है। पर विकल्पों की खोज में, चैतन्य तत्त्व की तलाश मे 'जीवात्मा' पर भी विचार करते हैं। यदि आत्मा सृष्टि का कारण है तो जीवन में, जगत में सुख के साथ दुःख क्यों होता है ? जीवात्मा स्वयं अपने को दु.ख देने के लिए सृष्टि की रचना क्यों करने लगा ? इस तरह वे 'काल', 'स्वभाव', 'नियति', 'यदृच्छा', 'पंचमहाभूत', 'योनि' अथवा जन्म, 'पुरुष', या इन सबका 'संयोग', तथा 'आत्मा'—सब या प्रत्येक को सृष्टि का पर्याप्त कारण नहीं मानते। फिर गहरे ध्यान द्वारा उन्होंने 'ब्रह्म-चक्र' को सृष्टि के कारण के रूप में देखा।

चक्र अथवा पहिये की उपमा द्वारा ऋषि ने सृष्टि की इतनी सुन्दर व्याख्या की है जो विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। इस विवेचन में सांख्य दर्शन की भरपूर झलक देखने को मिलती है। इसका अर्थ हुआ कि यह उपनिषद् सांख्य-ग्रंथ के बाद लिखा गया है। कुछ उपनिषदों से भगवान् बुद्ध एवं महावीर भलीभाँति परिचित थे और ऐसी मान्यता है कि ईश, कठ, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौशीतकी उपनिषद् ई०पू० आठ से सात शतकों में लिखे गए थे। डॉ० राधाकृष्णन के मतानुसार ये विश्व के सबसे प्राचीन दर्शनशास्त्र हैं। **कार्ल जैस्पर्स** का कहना है कि इनकी रचना विश्व-इतिहास के 'ऐक्सियल युग' में हुई जिसका अन्तराल आठ सौ से लेकर तीन सौ ईसा पूर्व माना जाता है जब विश्व के यूनान, चीन, भारत जैसे देशों में स्वाधीन रूप से परम्परागत जीवन-शैली के प्रति उत्तेजना उमड़ रही थी। उपनिषद् वैदिक साहित्य के श्रुति-वर्ग में आते हैं और सनातन माने जाते हैं। इनमें उद्घाटित तथ्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए हर काल में सार्थक हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं।

पहिया अपनी परिधि पर, नेमि पर, घूमता है। ब्रह्म-चक्र की नेमि प्रकृति है। पहिये पर लोहा चढ़ा होना आवश्यक है। इसकी तीन लपेटें हैं जो सत्त्व-रज-तम के वृत्त हैं। पहिया गोल बनाने के लिए कितनी ही छोटी-आडी लकड़ियों को जोड़ना पड़ता है। ब्रह्म-चक्र में एक-दूसरे के साथ लकड़ी के सोलह टुकड़े गाँठे गए हैं जो इसके 16 विकार हैं—ये पाँच महाभूत, पाँच-पाँच ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ और मन हैं। सांख्य-कारिका कहती है—**'मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'**। इस पहिये के 50 अरे हैं जो इसकी नाभि से जुड़े हुए हैं और पहिये को दृढ़ बनाते हैं और उसे चलाते हैं।

उनको **बुद्धि** के चार मुख्य भेद — विपर्यय — अशक्ति — तुष्टि

और 'सिद्धि' के अवान्तर-भेद मानती है। शंकराचार्य उनको 'विपर्यय', 'तम', 'मोह', 'महामोह', 'तामिस्र' और 'अन्धतामिस्र' के भेद मानते हैं। कुछ फेर-बदल के साथ इनकी योगसूत्र (I 8; II.2) में भी चर्चा की गई है। पहिया पाशों से बँधा होता है, 'ब्रह्म-चक्र' भी संसार के नाम-रूप की रस्सी से जकड़ा हुआ है। 'सांख्य' का अर्थ है संख्या और इस दर्शन-शास्त्र में रचयिता ने बाह्य जगत तथा अन्तर्जगत का अत्यन्त विशद विश्लेषण किया है जिसका किसी अन्य देश के दर्शन में उदाहरण मिलना कठिन है। पर संसार-चक्र से त्रस्त होने का मुख्य कारण है मोह, अविद्या जो अपने-अपने कर्मों पर निर्भर है। इसी तथ्य को उपनिषद् पाँच प्रचण्ड नदियों के उदाहरण से समझाता है।

ब्रह्माण्ड यदि ब्रह्म-चक्र के समान है तो पिण्ड एक नदी के सदृश है। यह शरीररूपी नदी पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सोतों से फूटती है, जिसके पंचमहाभूत उद्गम हैं, और पाँच प्राण इस नदी की लहरें हैं। इन्द्रियों के जो विषय हैं वे भँवर के समान है जिनमें जीव फँस जाता है। कोई रूप के भँवर में फँसा तो अन्य कोई रस, स्पर्श, शब्द और गन्ध के भँवरों में, या इन सब भँवरों से सदैव घिरा रहता है, कभी डूबने लगता है, फिर बाहर निकल आता है। जैसे नदी में कभी बाढ़ आ जाती है, वह उमड़ पड़ती है, वैसे ही शरीर में दु:खों की बाढ़-सी आ जाती है, वे वेग प्राय· गर्व, जन्म, जरा, व्याधि, मरण हैं। पर जैसे नदी तैरने के भिन्न-भिन्न उपाय होते है, उसी तरह जीवनरूपी नदी को भी पार करने के अनेक तरीके हैं। इस नदी के पाँच जोड़ हैं जिन्हें जीतकर ही नदी को पार किया जा सकता है। जीवन की नदी के पाँच अवरोध, पाँच बाधाएँ हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

जब जीवात्मा इन रुकावटों को हटाने में सफल हो जाता है, तब वह ब्रह्म में, अविनाशी तत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। हो सकता है किसी जीव के लिए यह सम्भव न हो सके कि वह इसी जन्म में अविद्या, राग-द्वेष आदि को दूर कर सके, अत: उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। अधिकांश लोग तो इन्द्रिय-सुख को ही आनन्द मान लेते हैं और सारे जीवन विषयों के पीछे दौड़ते रहते हैं। कुछ को यह ज्ञान हो जाता है कि शरीर या मन आत्मा नहीं है, फिर भी वे आत्मा और परमात्मा में भेद मानते हैं। जब उन महानुभावों की अविद्या दूर हो जाती है, ममता-मोह छूट जाता है, समस्त कर्म-संस्कार समाप्त हो जाते हैं, तब उन्हें जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता और वे उसी में लीन हो जाते हैं—**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च** (गीता-XI 54)—वे उसे जानते हैं, देखते हैं और उसमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जैसे सारी नदियाँ आरम्भ में कूदती-फाँदती बहती हैं फिर गहरी और गम्भीर होती जाती हैं अन्तत सागर से

मिलकर, अपनी निजी पहचान खोकर, सागर बन जाती हैं, उसी तरह हम सबको एक-न-एक दिन सारे नाते-रिश्ते तोड़कर, अपने-आपको खोकर ब्रह्म में प्रविष्ट होकर ब्रह्म होना ही है। इसमें हम कितना समय लगाते हैं, यह किसी अन्य के ऊपर निर्भर नहीं है, हमारे हाथ में है।

हमने आरम्भ में बताया था कि इस उपनिषद् में समन्वय पर बल दिया गया है। प्रकृति, जीव और ईश्वर को लीजिए। प्रकृति क्षर है और अक्षर भी। कार्यरूप में उसके सारे उपादान पल-पल परिवर्तित होते रहते हैं—वे क्षर, नष्ट होनेवाले दिखाई देते हैं। पर कभी भी कोई वस्तु नष्ट नहीं होती; उसका रूप बदल जाता है, अथवा कारण-रूप में वह अक्षर है, अविनाशी है, पर उसके कारण-रूप को हम पकड़ नहीं पाते; वह अव्यक्त है। इसी तरह जीव जब अपने-आपको शरीर मानते हुए भोग में लिप्त होता है तब वह सांसारिक बन्धनों में बँध जाता है, जीवात्मा रहता है। जब वह इन बन्धनों को तोड़ ईश्वर के **सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्** सत्ता को पहचान लेता है, तब वह जीवात्मा न रहकर जीवन्मुक्त हो ईश्वर हो जाता है। यही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है।

2. ब्रह्म का विशद विवेचन

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रथम अनुवाक में ब्रह्म की अति सूक्ष्म एवं सटीक परिभाषा दी गई है—**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**—ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञान का भण्डार है और अनन्त है, अतः वह परमानन्दस्वरूप है। इस परिभाषा का हम यथास्थान स्पष्टीकरण कर चुके हैं। **ईशावास्योपनिषद्** में भी, आपको याद होगा, ब्रह्म के विषय में कहा गया है—**ईशा वास्यमिदं सर्वं**—यह ईश्वर सबमें बसा हुआ है। **श्वेताश्वतर उपनिषद्** ने कई अध्यायों में ब्रह्म की विशद व्याख्या की है जिससे कम-से-कम बुद्धि-स्तर पर उसके विषय मे हमें कोई द्विधा न रहे। साथ ही उसमें ब्रह्म को प्राप्त करने के अपने ही अछूते ढंग से कुछ साधन बताए गए हैं। हम यहाँ ब्रह्म के मुख्य-मुख्य लक्षण देने का प्रयास करेंगे जिससे हमें उसके विषय में बहुत-कुछ शब्द-ज्ञान अवश्य हो जाएगा।

ब्रह्म एक है अद्विवीय है सहाय निरपेक्ष है रंग रूप से रहित है अवर्णनीय

है, पर सप्रयोजन अनेक अनगिनत रूप धारण कर लेता है और उनका संहार भी कर देता है। जैसे सूर्य की रश्मि का कोई रंग नहीं होता, पर संक्षत्र (प्रिज़्म) से गुजरने पर वह अनेक रंग धारण किए दिखाई देती है और वे सारे रंग फिर श्वेत हो जाते हैं, उसी तरह ब्रह्म एक होते हुए भी आदि में विश्व का संचयन तथा अन्त में विचयन करता है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

(IV-1)

वह अकेला ही इस समस्त प्रकृति का, जिसमें यह सृष्टि उदय एवं विलय होती है, अधिष्ठाता है। जब उस वन्दनीय सत्ता पर हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है तब हमें निश्चय ही परम शान्ति प्राप्त होती है—**निचाय्य इमाम् शान्तिम् अत्यन्तमेति*** (IV-11)। जो दिव्यात्माओं का अधिपति है, जिसमें सारे लोक अधिश्रित हैं, जो पशुओं एवं मानवों का स्वामी है, हम उसकी उपासना करते हैं। वह लोक-सृष्टि का पालक है, विश्व का अधिपति है, सब प्राणियों में छिपा हुआ है। ब्रह्मर्षि एवं दिव्य पुरुष सब उसी एक की आराधना में लगे हुए हैं। मानव जब उसे जान लेता है, तो मृत्यु के पाशों को काटने में सफल होकर जीवन-मुक्त हो जाता है। वस्तुतः देवगण उसी से प्रकट होते हैं और उसी से शक्तिशाली बनते हैं। बड़ी काव्यमयी शैली में उपनिषद् कहता है : वह देखो, सृष्टि के प्रारम्भ में वह जाज्वल्यमान हिरण्यगर्भ उत्पन्न हो रहा है—**हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्** (IV-12)। वह ब्रह्म विश्वकर्मा है, परमात्मा है, सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। जब हृदय में उसकी चाह हो, बुद्धि द्वारा उसकी खोज हो और मन से उसका ध्यान हो, तभी वह समझ में आता है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि आत्मा अथवा परमात्मा, बुद्धि और मन, तीनों की अलग-अलग चर्चा की गई है। आरम्भ मे हम आत्मा को मन या बुद्धि मान बैठते हैं। **छान्दोग्योपनिषद्** में **उद्दालक** ऋषि ने प्रयोग द्वारा अपने सुपुत्र श्वेतकेतु को यह समझा दिया कि मन भी एक भौतिक तत्त्व है। पंद्रह दिन केवल जल पर निर्वाह करने के बाद उसकी स्मृति मन्द पड़ गई और वह वेदों की कोई

---

* पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको, यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां ————————॥

भी ऋचा नहीं सुना सका; भोजन करने के बाद उसकी याद लौटी। अतः मन की कार्यशक्ति अन्न पर आधारित है। **तैत्तिरीय उपनिषद्** में कोशों की चर्चा करते हुए ऋषि ने मनोमय तथा ज्ञानमय और विज्ञानमय कोशों को अलग-अलग बताया है और मनोमय कोश से अन्य दोनों को ऊँचा स्तर दिया है। इस उपनिषद् (**श्वेताश्वतर**) के दूसरे अध्याय के आरम्भ में 'धीः' और 'मन' में भेद किया गया है—**युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः** (II 1)। वैसे भी अन्तःकरण-चतुष्टय में मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार शामिल हैं। जब 'तम' दूर हो जाता है, अविद्या हट जाती है, तब जो ज्ञान का उदय होता है वह परमात्मा का, ब्रह्म का, दिव्यरूप न सत् है, न असत्, वह उसका केवल शिव रूप है, अक्षर-अविनाशी रूप है. वह सविता का वरेण्य रूप है—**तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं** (IV-18)। ब्रह्म के उसी रूप से, पुरातन प्रज्ञा, सनातन ज्ञान का अभ्युदय हुआ है। ब्रह्म ही वेदों का स्रोत है, उनका प्राण है जिसके द्वारा हमें सारा ज्ञान प्राप्त हुआ है।

वह नौ द्वारवाली इस देह की नगरी में रहता है—**नवद्वारे पुरे**। वे नौ द्वार है—दो आँखें, दो कान, दो नथुने, एक मुख तथा मूत्रनली और गुदास्थान। ठीक यही शब्द गीता के पाँचवे अध्याय के 13वें श्लोक में प्रयुक्त हुए हैं—**नवद्वारे पुरे देही**। पर वह बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है, बिना मुख के खाता है इत्यादि। जैसा **गीता** के 13वें अध्याय के 14वें श्लोक में कहा गया है, वह सारी इन्द्रियों को चमक देता है, गतिशील करता है पर स्वयं सभी इन्द्रियों से रहित है, सबका आधार है पर सबसे निर्लिप्त है, वह सब गुणों का अधिष्ठाता है पर उसका कोई लक्षण नहीं है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

(गीता XIII-14)

यह उपनिषद् भी स्थापित करता है कि ब्रह्म निर्गुण है या सगुण—यह वाद-विवाद निरर्थक है क्योंकि वह दोनों है। **स्वामी शिवानन्द जी** का कहना है कि जो सगुण ब्रह्म को प्राप्त करता है उसे क्रममुक्ति मिलती है, वह ब्रह्मलोक जाता है; और जो निर्गुण ब्रह्म अथवा परा-ब्रह्म पर ध्यान जमाता है वह माया से मुक्त हो कैवल्यमुक्ति को पाता है। निर्गुण और सगुण एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं, पक्ष हैं। सगुण ब्रह्म के उपासक का हृदय प्रेम से ओतप्रोत हो जाता है, उसके नेत्रों से विरह के आँसू झरने लगते हैं। मीरा के विरह का दर्द तो कोई नहीं जानता, पर कबीर के लिए तो प्रीतम का विरह 'सुल्तान' है और जिस भक्त-हृदय ने विरह

पीड़ा अनुभव नहीं की है वह 'मसान', मरघट के समान है।

निर्गुण रूप में ब्रह्म अनन्त, असीम, अभाज्य, सर्वव्यापी एवं अत्यन्त सूक्ष्म है। वह अरूप है क्योंकि रूप तो स्थूल वस्तुओं का ही हो सकता है। वह तीनो प्रकार की पीड़ा—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—से मुक्त है। वह विशुद्ध चैतन्य है—किसी व्यक्ति, वस्तु, विषय की चेतना नहीं, केवल चेतना। उसका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है। भला जड़ और चेतन का क्या मेल। वह हर स्थान, हर प्राणी में छिपा हुआ है। अकेला वह सम्पूर्ण विश्व को लपेटे हुए है, उसका स्वामी है, जिससे न कुछ परे है, न वरे है। जैसे पृथ्वी मे जमा हुआ वृक्ष आकाश में सिर उठाए खड़ा होता है, इसी प्रकार वह एक, जमकर द्युलोक में खडा है—**वृक्ष इव स्तब्धः दिवि तिष्ठति** (III-9), जिससे न कुछ महत्तर है, न कुछ सूक्ष्मतर। सूक्ष्मता में वह सुई की नोक से भी अधिक सूक्ष्म है—**आराग्रमात्रः** (V-8)। उसकी सूक्ष्मता को दर्शाते हुए ऋषि आगे कहते हैं कि यदि बाल के अगले भाग के सौ भाग किए जाएँ, फिर उनमें से एक के सौ भाग किए जाएँ तो उतना सूक्ष्म है जीव, फिर भी वह अनन्त सामर्थ्यवाला है।

जब हम निर्गुण ब्रह्म को नाम-रूप दे देते हैं, उसको विभिन्न विभूतियों से, गुणों एवं लक्षणों से अलंकृत कर देते हैं, तो वह 'सगुण' हो जाता है। ऐसा करने से हमारी बिखरी हुई मनोवृत्तियों को टिकने का एक ठौर मिल जाता है और ध्यान जमाना कुछ सरल-सा लगता है। पर सगुण भी निर्गुण का ही दूसरा पक्ष है। सगुण की उपासना करनेवाले भी अपने इष्टदेवता को सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सारे विश्व/सृष्टि में छाया हुआ मानते हैं—**सियाराममय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोड़ युग पाणी**। दोनों में उस सत्ता से तादात्म्य प्राप्त करने की उत्कण्ठा है, और जब तक 'मेल' नहीं हो जाता, तब तक विरह की पीड़ा सताती रहती है। हमारे उपनिषत्कार रुद्र, शिव को ब्रह्म मानते हैं और उनकी महिमा की चर्चा करते नही थकते। ब्रह्म का सब जगह मुख है, सिर है, ग्रीवा है। वह सब जीवधारियों के हृदय में विराजमान है। वह भगवान् सर्वव्यापी है, सब जगह मौजूद है, शिव है—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः *(III-11)*

इस श्लोक में उनको भगवान् की उपाधि दी गई है। भगवान् के छह दैवी लक्षण माने गए हैं—ऐश्वर्य (जिसमें तरह-तरह की शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं), वीर्य (जो बलवान् है, सर्वशक्तिमान् है), यश (जो सारे ससार में कीर्तिमान) है, श्री (धन-धान्य सम्पन्न), ज्ञान और वैराग्य; जो इतने गुणों से युक्त होने पर भी

किसी में आसक्ति नहीं रखता, निःस्पृह है और सबका कल्याण करने में लगा रहता है। अगले श्लोक में इस भाव को और विस्तार से समझाते हैं। उस पुरुष के सहस्रों सिर हैं, आँखें हैं, हाथ हैं, पाँव हैं। वह हाथ से सारे ब्रह्माण्ड को छू रहा है, फिर भी उसकी दसों उँगलियाँ कुछ भी नहीं छूतीं, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड उसके लिए नगण्य है और उसकी सारी उँगलियाँ जैसे खाली रह जाती हैं। ब्रह्म की इतनी विशद व्याख्या करने के बाद यही कहना पड़ेगा कि वह भाषा द्वारा वर्णित नही किया जा सकता। वह वाणी, मन, बुद्धि से परे है। फिर भी इस विवेचन द्वारा उसकी सत्ता का थोड़ा-बहुत आभास तो हो ही जाएगा।

जिस तरह **श्वेताश्वतर उपनिषद्** निर्गुण और सगुण ब्रह्म का समन्वय करता है, उसी तरह वह जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं समझता, दोनो को एक मानता है। वह अँगूठे के आकार जैसा पुरुष, जो मन, बुद्धि और चित्त से छिपा हुआ है, वह जीवात्मा के हृदय में सन्निविष्ट है। अँगूठे की उपमा सम्भवत. इसलिए दी गई कि यदि कोई अनन्त पर ध्यान नहीं जमा सकता तो अँगूठे पर तो मन केन्द्रित कर सकता है—**अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा** (III-13)। बिल्कुल ऐसा ही विचार **कठोपनिषद्** के रचयिता ऋषि ने व्यक्त किया है। वह कहते है—अँगूठे जितना पुरुष, परमात्मा, आत्मा के मध्य में बैठा हुआ है—**अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठन्ति** (IV-12)। अब अँगूठे जैसे नगण्य आकार में परब्रह्म किस तरह समा सकता है? इसके दो स्पष्टीकरण हो सकते हैं। एक तो यह कि जिस प्रकार सागर की एक बूँद से आपको सारे सागर के स्वाद का भान हो सकता है, उसी तरह यदि आप जीवात्मा में स्थित थोड़े-से ब्रह्म का अनुभव कर लें तो मानो सम्पूर्ण ब्रह्म का अनुभव कर लिया। ब्रह्म की जानकारी या तो होती नहीं और होती है तो पूरी होती है; थोड़ी सम्भव नही है। दूसरे, उपनिषद् सम्भवतः ब्रह्म की अँगूठे से उपमा देने के इसलिए इच्छुक हैं कि अँगूठा (या उँगली) पकड़कर ही तो हम बालक आगे बढ़ सकते हैं। **कठोपनिषद्** के अगले श्लोक ने इसको और स्पष्ट कर दिया है—

> **अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः**
> **ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वैतत्॥**
>
> *(कठ IV-13)*

वह ब्रह्म सब जगह है तो अंगुष्ठमात्र अर्थात् थोड़ा-सा, तो भी उसका ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान के समान है। वह एक धुएँ-रहित ज्योति के समान है। वही कल था, आज है और आगे भी होगा, ऐसा ब्रह्म है।

श्वेताश्वतर ऋषि समझाते हैं कि यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) में कोई अन्तर नहीं है, पर जीवात्मा प्रकृति के गुणों—सत्त्व, राजस और तामस—से लिप्त होकर भटक जाता है और अपने कर्मों के कारण तीन मार्गों में चक्कर काटता रहता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वे तीन मार्ग उत्तम, मध्यम और अधम है। इनको **गीता** के आठवें अध्याय में (श्लोक 24 से 27) विस्तार से समझाया गया है, और योग द्वारा ब्रह्म में स्थित रहने की राय दी गई है।

3. मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ

श्वेताश्वतर उपनिषद् के छह अध्यायों में पहला मुख्यतः सृष्टि की उत्पत्ति की बात करता है और जिस तरह विषय-विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि उपनिषत्कार अत्यन्त गंभीर विश्लेषणात्मक कुशाग्र बुद्धि के धनी हैं, साथ ही तटस्थ एवं निष्पक्ष भी। उनकी भाषा अलंकारी एवं काव्यात्मक होते हुए भी विज्ञान पर आधारित है। वे सृष्टि के सात विकल्प बताते हैं—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंच महाभूत, योनि, पुरुष और आठवाँ इनका संयोग। इसकी चर्चा हम पहले लेख में कर चुके हैं कि अन्त मे वह ब्रह्म-चक्र को ही सृष्टि की उत्पत्ति का स्रोत सिद्ध करते हैं। दूसरे अध्याय मे **ऋषि श्वेताश्वतर** ब्रह्म को जानने की विधि पर प्रकाश डालते हैं। शेष अध्यायों में वह इसके साथ-साथ ब्रह्म के, जो उनके लिए रुद्र हैं, लक्षणों का वर्णन करते हैं जिससे 'उस' को जानने में सहायता मिल सके। हमने क्रम में कुछ परिवर्तन करने की धृष्टता की है—दूसरे निबध में ब्रह्म की महिमा की चर्चा की है और अब अन्त में उसके जानने की बात करने जा रहे हैं।

श्वेताश्वतर ऋषि स्वयं ब्रह्मज्ञानी हैं, अतः हमें यह मार्ग बताने के पूर्ण अधिकारी हैं। वह निर्भीक होकर दावे के साथ कहते हैं : ''मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ जो आदित्य की भाँति चमक रहा है''—**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णम्** (III-8)। संसार में ऐसे गिने-चुने ही सन्त-महात्मा होंगे जो डंके की चोट पर ऐसी घोषणा करने का साहस कर सकें। विश्व-साहित्य में **किसी भी दार्शनिक का** इतना सुस्पष्ट दावा **देखने** को नहीं मिलता पश्चिम के

दार्शनिक विशाल ग्रंथों की रचना करने के बाद इतना ही कह पाए हैं कि वह अनन्त सत्ता बुद्धि की पकड़ से परे है। वास्तविकता यह है कि 'वह' अध्ययन का विषय है ही नहीं। उसको तो केवल अनुभव किया जा सकता है और इस अनुभव के लिए हमें 'तप' करना होगा। तप का अर्थ है अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना। जहाँ भौतिकवाद का बोलबाला हो वहाँ यह बहुत कठिन है। यह ऋषि पुनः कहते हैं . ''मैं इसे जानता हूँ, यह अजर है, पुरातन है, सब प्रकार से आत्मा ही आत्मा है, सब जगह पहुँचा हुआ है, विभु है—**वेदाहमेतमजरं पुराणं, सर्वात्मानं, सर्वगतं, विभुत्वात्** (III-21)।

ब्रह्म की जानकारी अथवा उसकी ओर उन्मुख होने के लिए जनसाधारण को क्या करना चाहिए, इस विषय पर हम आम व्यक्ति के दृष्टिकोण से ही विचार करेंगे। सबसे पहले, यदि वह परमानन्द की खोज में तत्पर है, तो उसे अपने जीवन के परम लक्ष्य में आध्यात्मिक पुट देना ही होगा। वह धनोपार्जन करे, पर धर्म को ध्यान मे रखते हुए; उसका सेवन करे, पर औषध के रूप में। आजकल बात-बात पर डॉक्टर-वैद्य के पास दौड़ना और अन्धाधुन्ध औषधों के खाने से कभी-कभी स्वास्थ्य को लाभ न पहुँच कर हानि होती है। उसी तरह धन के अभद्र, अशिष्ट प्रयोग से आनन्द लोप हो जाता है। दूसरे, शारीरिक एवं मानसिक स्वच्छता रखना आवश्यक है। जब आप किसी विशिष्ट व्यक्ति से भेंट करने जाते हैं तब अपने कपड़ों का विशेष ध्यान रखते हैं, तेल-फुलेल भी लगा लेते हैं, जितना हो सके बन-ठनकर सुन्दर बनने का प्रयत्न करते हैं। जब आप सारी सृष्टि के स्वामी से मिलना चाहते हैं, तब तो आपका हर प्रकार से शुद्ध होना आवश्यक है। यहाँ शरीर की सफाई से कोई लाभ होनेवाला नहीं है; अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—की शुद्धता की आवश्यकता है—**युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः**—सबसे पहले साधक को मन को शुद्ध करना है। मन जप, कीर्तन, ध्यान, सात्त्विक भोजन, निष्काम कर्म आदि द्वारा शुद्ध हो सकता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए फिर कहते हैं कि आप मन और बुद्धि द्वारा इन्द्रियों को वश में कर द्यु-लोक की महान् ज्योति को प्राप्त कर सकते हैं—**युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्, बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्** (II-3)। पर मन को वश में करना बड़ा कठिन कार्य है। जब गीता में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से निवेदन किया कि मन तो वायु के समान चंचल है और शक्तिशाली भी, तो भगवान् ने इस शिकायत का अनुमोदन किया, पर साथ ही कहा कि अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा इस पर नियंत्रण किया जा सकता है।

मन को वश में करने की पहली सीढ़ी यह है कि आप इन्द्रियों का निग्रह

कीजिए, उनको अपने विषयों की ओर भागने पर अकुश लगाइए, दूसरे, विकारों को क्रमशः कम करते जाएँ। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि मुख्य विकार हैं जिनके कारण हमारा मन सदा अशुद्ध रहता है और हम ताड़ित, दु:खी भी रहते हैं। किसी भी विकार को लें, जैसे क्रोध या ईर्ष्या। इनसे पीड़ित होने पर सबसे पहले और अत्यधिक कष्ट स्वयं आपको होता है, फिर आप सारा वातावरण दूषित करते हैं, साथ ही आप जिस पर क्रोध कर रहे हैं, या जिससे ईर्ष्या कर रहे हैं उसको भी कष्ट दे रहे हैं। जब ऐसी स्थिति है, आनन्द के पास फटकने की कोई सम्भावना नहीं है, ध्यान नही टिक रहा है तो परमानन्द प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। कुछ समय पहले मैं 95 वर्ष से ऊपर व्यक्तियों से साक्षात्कार कर रहा था। एक महाशय ने अपने दीर्घायु होने का मुख्य कारण बताया : ''मैं कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता।'' ईर्ष्या से वही मुक्त हो सकता है जिसको जो कुछ उसके पास है उससे संतोष है। **गीता** में कहा है—जो कुछ उसे मिलता है, उससे सतुष्ट, द्वन्द्व और ईर्ष्या-रहित, हानि-लाभ में सम—ऐसा मानव कर्म करते हुए भी कर्मबंधन से मुक्त रहता है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

(गीता IV-22)

ऐसे व्यक्ति को मोह भी नहीं सताता, उसका सांसारिक वस्तुओं से—गाड़ी-बाड़ी, पति-पत्नी, बाल-गोपाल से लगाव भी नहीं होता। जब तक आप संसार से चिपके रहेंगे, ब्रह्म की ओर, परमानन्द की ओर अग्रसर होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसकी सिद्धि प्राप्त करने के लिए कर्म का मर्म जानना अत्यन्तावश्यक है। वह मर्म यह है कि कर्म करते रहो, पर फल की इच्छा मत करो, फल आपके हाथ में भी नहीं है, और जो फल मिले उसमें सम रहो—**तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्** (गीता II-50)।

एक वृक्ष पर दो पक्षि-मित्र बैठे हैं। एक तो वृक्ष के अच्छे-अच्छे फलों को स्वाद लेकर खा रहा है, दूसरा कुछ खाता नहीं, केवल देखता है। अतः इस संसार-रूपी वृक्ष में कुछ लोग तो इन्द्रिय-सुख में सतत संलग्न हैं और विरले ही, सब-कुछ करते हैं, पर उसमें लिप्त नहीं होते। ऐसे ही व्यक्ति जो संसार में द्रष्टा-भाव से रहते हैं, वही परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं—**अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः** (IV-5)। एक व्यक्ति मोह में पडकर शोक करने लगता है दूसरा ईश्वर की महिमा देख वीत शोक हो जाता

है। यदि तिलों में से तेल निकालना है, या दही मे से मथनी द्वारा मक्खन निकालना है तो परिश्रम तो करना ही पड़ेगा। जब मथनी को बहुत देर तक बिलोते रहते हैं, तभी घृत ऊपर उठता है; उसी तरह जब तक अखण्ड ध्यान जमाने का अभ्यास परिपक्व नहीं होता, ब्रह्मरूपी ज्ञान कैसे उभर सकता है। **विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशः** (IV-16) और तब वह संसार के सारे बन्धनों से मुक्त हो जगत को आवृत करनेवाले देव, ब्रह्म को जान लेता है।

हम निरन्तर कर्म करते रहते हैं। यदि हम कर्मबन्धन से मुक्त होने की प्रक्रिया भलीभाँति समझ लें तो आनन्द की खोज का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। प्रतिपल हमारे मस्तिष्क की ऊपरी परत पर अनगिनत संवेदनाओं की छाप पड़ती रहती है—सर्दी, गर्मी, विभिन्न ध्वनियाँ, गन्ध आदि। अधिकांश संवेदनाओं की ओर तो हम ध्यान नहीं देते, कुछ पर ही हमारी दृष्टि जाती है, और उनमें से बहुत कम का अवमूल्यन कर हम प्रतिक्रिया करते हैं। इसी तरह हमारे मन में स्फूर्णाएँ उठती रहती हैं—राग-द्वेष, लोभ-मोह, छल-कपट, प्रेम-सेवाभाव आदि। जब तक वृक्ष पर बैठे पक्षी की तरह हम केवल उनको देखते है, तब तक सब ठीक है। जहाँ हमने कोई प्रतिक्रिया की, समझो कि एक कर्मबीज बो दिया। बीज फूटेगा, पौधा होगा, वृक्ष बनेगा, उसमे फूल आएँगे, फिर फल, और प्रत्येक फल में एक-एक या अधिक बीज होंगे। वे फल-बीज पृथ्वी पर गिरेंगे और उनमें से कितने ही पुनः पौधो में विकसित होगे, वृक्ष बनेंगे और फिर उनमें फूल-फल फूटेंगे। तो एक कर्मबीज बो देने से हम कर्मों के बन्धन से बँध जाते हैं, जकड़ जाते हैं। और हम तो प्रतिदिन न जाने कितने कर्मबीज बोते हैं और उनका फल भोगने के भागी बन जाते हैं—यही है संसार-चक्र! बजाय ब्रह्मचक्र को समझने के हम कर्म-चक्र में फँस जाते हैं और जीवन-मृत्यु के चक्कर से निकल नहीं पाते। इस चक्रव्यूह से बाहर आने का एक उपाय है—हर हाल में सम रहना, प्रतिक्रिया न करना, जो हो रहा है उसे देखना, द्रष्टाभाव दृढ़ करना और ध्यान की मथनी से अपने मन-बुद्धि को जितना हो सके मथते रहना ताकि ब्रह्म का नवनीत ऊपर आता रहे। कठिन कार्य है, पर दृढ़ संकल्प और सतत प्रयत्न से सब-कुछ सम्भव है।

इस प्रकार कर्म करने से कालान्तर में एक ज्योति जाग्रत हो जाएगी। कर्म, कर्मेन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होते हैं, उनका इस ज्योति पर कोई प्रभाव नहीं पडता, सकाम होने से वह ज्योति ढक जाती है, निष्काम कर्म से वह ज्योति प्रखर हो जाती है। वह तो सदा निष्क्रिय रहती है, पर जो धीर लोग आत्मा में स्थित उसका दर्शन करते हैं वे आनन्द-विभोर हो धन्य हो जाते हैं—**एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति, तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं**

शाश्वतं नेतरेषाम् (VI-12)।

जनसाधारण को आनन्द की खोज में दो मुख्य बाधाएँ है—एक, ममता-मोह नहीं छूटता; दो, ध्यान नहीं जमता। दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब आपकी जगत से तीव्र आसक्ति है तो ध्यान जगत का ही होगा। जैसे-जैसे यह अनुरक्ति कम होगी, मन की वृत्तियाँ शान्त होती जाएँगी, ध्यान टिकने लगेगा। एक वृद्धा नियमित रूप से एक महात्मा जी का प्रवचन सुनने आती थी। वह सन्त भी ममता-मोह छोड़ने का उपदेश देते थे। एक दिन वृद्धा ने कहा : ''महाराज, मैने सबका मोह त्याग दिया है पर अपने पौत्र से मेरा बड़ा लगाव है, वह नहीं जाता।'' महात्मा जी ने कहा : ''कोई बात नहीं, तुम कृष्ण के बालरूप की भक्त हो, अपने पौत्र को कृष्ण मानकर उसकी देखभाल करो, उससे प्यार करो, तुम्हारा कल्याण होगा।'' हम साधारण लोगों को राग-द्वेष होना स्वाभाविक है, जन्म से आदत जो पड़ी हुई है, प्रिय वस्तु मिल जाती है तो अच्छा लगता है, विछोह होने पर दुःख। एक युक्ति और प्रयोग कर सकते हैं पर कुछ कठिन है। निरन्तर अभ्यास करना होगा—दोनों को द्रष्टा बनकर देखिए; जैसे-जैसे द्रष्टा-भाव दृढ़ होगा, सुख की सिहरन और दुःख की टीस फीकी पड़ती जाएगी और आप इस परमानन्द की ओर उन्मुख होते जाएँगे।

ब्रह्म पर ध्यान जमने के लक्षण यह हैं कि शुरू-शुरू में भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देंगे—कुहरा-धुआँ-जुगनू-बिजली-स्फटिक-चाँद। ऐसे रूप ब्रह्म को अभिव्यक्त करते हैं। सीधा ब्रह्म के जाज्वल्यमान तेज को सहना दुष्कर है, इसलिए पहले ऐसी ज्योतियाँ दिखाई देने लगती हैं (II-11)। ये बड़े शुभ चिह्न हैं। फिर शरीर हल्का-फुल्का लगने लगता है, नीरोग हो जाता है, विषय-भोग की लालसा मिट जाती है, मुखमण्डल कान्तिमय, तेजोमय हो जाता है। योगी का शरीर जैसे वज्रकाय हो जाता है। स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि इन दैवी अनुभवों द्वारा मन स्थिर हो जाता है और बाह्य आकर्षण समाप्त हो जाता है (II-12)। साधक संसार-चक्र से निकल, ब्रह्म-चक्र की विभूतियों को समझने लगता है। मुण्डकोपनिषद् कहता है—जैसे मकड़ी अपने अन्दर से ही जाला बनाती है और फिर समेट लेती है, उसी तरह यह सारी सृष्टि ब्रह्म द्वारा ही प्रकट हुई है और फिर उसी में लीन हो जाती है (I-7)। इससे स्पष्ट है कि ससार का भौतिक कारण भी ब्रह्म है, अतः साधक को सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में उसी सत्ता के दर्शन करने का अभ्यास करना हितकर है। अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा दोनों ही अक्षर हैं, अनन्त हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं। ज्ञान और कर्म—आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दृष्टि—दोनों ही उस अक्षर-ब्रह्म मे निहित हैं, उसमे ही उत्पन्न होते हैं। जैसे सूर्य

सब दिशाओं को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशमान है, उसी तरह वह ब्रह्म संसार की समस्त योनियो का अधिष्ठाता है। जैसा **आदि शंकराचार्य** का कहना है कि भिन्न-भिन्न आकृति के सोने से बने आभूषण सोना ही हैं, विभिन्न नाम-रूप होने से उनका मूल उपादान नहीं बदल जाता।

यह ब्रह्म-विद्या उपनिषदों में सँजोई हुई है और उपनिषद् वेदों में निहित हैं। जैसे देवर्षि इस ज्ञान को अपनाकर कृत-कृत्य हो गए, उसी तरह हम भी उसको समझकर, उसका अभ्यास कर अमृतत्व को, परमानन्द को प्राप्त कर सकते हैं (V-6)।
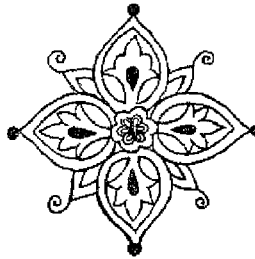
1. क्या ब्रह्मज्ञान के लिए संन्यास आवश्यक है ?

मुण्डकोपनिषद् भी **माण्डूक्य** की तरह **अथर्ववेद** का उपनिषद् है। इसमें तीन अध्याय हैं जो 'मुण्डक' कहे गए हैं और प्रत्येक 'मुण्डक' के दो-दो भाग हैं जो **'खण्ड'** कहलाते हैं। केवल चौसठ मन्त्रो का यह उपनिषद् छोटा ही कहा जाएगा, पर इसकी गणना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनिषदों में की जाती है। इसी उपनिषद् से अशोक के भव्य सिंहोंवाले राष्ट्रीय प्रतीक पर अंकित शब्द **'सत्यमेव जयते'** लिये गए हैं। पूरा मन्त्र तीसरे मुण्डक के पहले खण्ड में इस प्रकार है—**सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः**, अर्थात् सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं, देवों की ओर जानेवाला मार्ग सत्य से बना है। उचित स्थान पर हम इसकी पूरी व्याख्या करेंगे। इसी तरह **माण्डूक्योपनिषद्** के कई मन्त्रों में जो **'सप्ताङ्ग'** शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका खुलासा इस उपनिषद् में इन शब्दों में किया गया है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

यह दूसरे मुण्डक के पहले खण्ड का चौथा मन्त्र है। यहाँ विराट-रूप ब्रह्म के, जो जाग्रत एवं स्वप्न दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है, अथवा ब्रह्माण्ड के, सात अंग गिनाए गए हैं—अग्नि उसका मस्तिष्क है, चन्द्र और सूर्य उसकी दो आँखें हैं, दिशाएँ श्रोत्र हैं, ज्ञान के भण्डार वेद उसकी वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है और पृथ्वी पैर हैं। यह मन्त्र हमने **माण्डूक्योपनिषद्** में 'सप्ताङ्ग' की व्याख्या करते हुए भी उद्धृत किया था। जीवात्मा की तरह ब्रह्म के भी ये सात अंग हैं। ये स्थूल रूप में जाग्रतावस्था में होते हैं और स्वप्नावस्था में बीजरूप में—'अन्तःप्रज्ञः'। इस उपनिषद् में ज्ञानमार्ग की सर्वोच्च स्थिति बताई गई है जिसे जानकर साधक स्वयं ब्रह्मविद् हो जाता है।

'मुण्डक' शब्द की उत्पत्ति 'मुण्ड' से हुई है जिसका अर्थ है क्षुर, उस्तरा, सिर के सारे बाल साफ मूँडनेवाला। **स्वामी शिवानन्द** तथा **डॉ० राधाकृष्णन** दोनों का मत है कि जिस तरह मुण्डन से सिर के सारे बाल हट जाते हैं, उसी तरह इस उपनिषद् को किसी गुरु द्वारा समझने से साधक के सारे संशय, संदेह एव अज्ञान दूर हो जाता है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि केवल वही व्यक्ति जिसने संसार की समस्त इच्छाएँ, कामनाएँ त्यागकर, अपने अन्त.करण के सारे विकारों को दूर कर, अपना सिर मुँडाकर सन्यास आश्रम अपना लिया है, वही इस उपनिषद् के अध्ययन का सच्चा अधिकारी है, दूसरा नहीं। उपनिषत्कार ने दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख किया है—अपरा और परा। सांसारिक जितने भी विषय हैं वे सब—यहाँ तक कि वेद-शास्त्र भी—अपरा विद्या के अन्तर्गत आते है (I-1.5)। ब्रह्मविद्या, पढ़ने-लिखने से, सैकड़ो पुस्तको के अध्ययन का बोझ ढोने से, आ नहीं सकती, और न यज्ञ-अनुष्ठान आदि करने से—जो एक गृहस्थ के लिए निर्धारित हैं—कोई ब्रह्मज्ञान के पास फटक सकता है, उसे तो गुरु के बताए जप-तप-निदिध्यासन करते हुए उनके श्रीमुख से जाना जा सकता है। इस बात पर उपनिषद् भरपूर बल देता है। तीसरे मुण्डक के अन्त में वह पुन स्पष्टीकरण करता है कि यह ब्रह्मज्ञान केवल उन्हीं लोगों को देना चाहिए जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रत को धारण किया है, अथवा संन्यास लिया है (III-2.10)। किसी पुरातनकाल में **अंगिरा ऋषि** ने इस उपदेश को दिया था, संकल्प शक्ति-विहीन व्यक्ति इस पाठ को हृदयङ्गम नहीं कर सकता (III-2.11)।

सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के ज्ञान के अतिरिक्त और भी मार्ग हैं। गुरु नानक, सन्त कबीर, सन्त तुकाराम, सन्त तुलसीदास, मीराबाई, श्री रामकृष्ण परमहंस, श्री अरविन्द आदि कोई भी संन्यासी नहीं थे, पर उनका ब्रह्मज्ञान किसी सन्यासी से कम नहीं था। वस्तुत: परमज्ञानी एवं परमभक्त में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। गुरु तोतापुरी रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिक पराकाष्ठा को देख दग रह गए थे। आत्मानुसंधान एवं निष्काम कर्म द्वारा भी मनुष्य आनन्द की खोज में सफलता प्राप्त कर सकता है। **भगवान् बुद्ध** एवं **भगवान् महावीर** ने किसी भी परम्परागत प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया और न हमें उनके किसी गुरु का पता है, फिर भी उन्होंने महापरिनिर्वाण अथवा निर्विकल्प समाधि की स्थिति प्राप्त की। दोनों ने एक नई विचारधारा को प्रवाहित किया, और वे एक नए धर्म के संस्थापक के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

कर्मयोग अपने-आप में एक स्वावलम्बी मार्ग है जो किसी को भी जीवन-मृत्यु के बन्धन से मुक्त कराने में सक्षम है। कर्मयोगी अपने सारे कर्म ईश्वर का

प्रसाद समझकर करता है, उनका फल भी उन्हीं को अर्पण कर देता है। यदि वह ऐसा आजन्म न कर सके और कुछ ही समय तक कर पाए, तो भी उसका कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता और उसका अल्पकालिक अभ्यास उसकी बड़े भय से भी रक्षा करता है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ *(गीता II-40)*

और यदि कोई साधक सुख-दुःख तथा लाभालाभ में सम रहकर (गीता-38) कर्म करने की आदत बना ले, तब तो उसको बहुत शीघ्र लाभ अनुभव होने लगेगा क्योंकि 'समत्व' को ही योग कहते हैं (गीता 48)। एक युक्ति यह भी है कि प्रत्येक कर्म मन और बुद्धि को भगवान् में जमाकर किया जाए तो साधक भगवान् को ही प्राप्त होता है—**मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्** (गीता-VIII 7)। मुख्य बात यह है कि आप कोई भी कार्य करें, भगवान् का समझकर करें, निरन्तर उसका, ब्रह्म का ध्यान दृढ़ रहे—जैसे कहते हैं, एक हाथ काम पर दूसरा भगवान् पर, क्योंकि सब-कुछ, सारे कार्य भगवान् से ही उत्पन्न होते हैं, उसी मे स्थित हैं और उसी में विलय हो जाते हैं, चाहे वे ब्रह्माण्ड की क्रियाएँ हों या पिण्ड की। **तैत्तिरीय उपनिषद्** की भृगुवल्ली के छठे अनुवाक में कुछ ऐसा ही कहा गया है। भगवान् वरुण अपने पुत्र भृगु को आनन्दमय कोश की व्याख्या करते हुए समझाते है कि 'आनन्द' ही ब्रह्म है, 'आनन्द' से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं।

एक और बात पर ध्यान दें : कोई भी प्राणी बिना कोई कर्म किए एक पल रह नहीं सकता। संन्यासी को भी कर्म करना पड़ता है। संन्यास लेते ही सारी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ लोप तो हो नहीं जातीं, न ही मन-बुद्धि के विकार दूर हो जाते हैं। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के क्षीण होने में समय लगता है। अब यदि कोई कर्म करता हुआ दिखाई न दे और उसका मन इन्द्रियों के विषयो का चिन्तन करता रहे तो यह पाखण्ड ही कहा जाएगा (गीता III-6)। इसलिए **भगवान् कृष्ण** ने यह उपदेश दिया है कि किसी को भी अपना स्वधर्म नहीं छोड़ना चाहिए। यदि कोई अपने कर्तव्य-कर्म को सदोष भी करता है, तो भी मान्य है (XVIII-48) क्योंकि संसार में कुछ भी परिपूर्ण, आदर्श, अनिन्द्य तो हो नहीं सकता, और है नहीं। हाँ, निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने काम में उत्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

गृहस्थ होते हुए आपकी पग-पग पर परीक्षा होती रहती है—आप अपने

स्वजनों से, मित्रों से कैसा व्यवहार कर रहे हैं, उनको किस दृष्टि से देख रहे हैं, उनको भगवान् का बिम्ब मानकर सेवा-भाव उमड रहा है या उनका शोषण करने की योजना बन रही है—यह केवल आप ही जानते है, अन्य कोई नहीं। इसी तरह आपका मन कहाँ-कहाँ भाग रहा है, उसमें क्या खिचडी पक रही है, आप उसको नियंत्रित करने में कहाँ तक सफल हो रहे हैं; काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार कुछ कम हो रहे हैं या बढ़ रहे है—दोनों विकल्प आपके सामने हैं, आप जैसा चाहे वह करें, आपको खुली छूट है। आप निष्काम कर्म करने में कितने सफल हो रहे हैं—यह किसी अन्य के नहीं, आपके हाथ में है। जब आप नए कर्म-बीज बोना बन्द कर देंगे तो पुराने संस्कार क्रमशः क्षीण होते जाएँगे। जैसे-जैसे आपका संसार से चिपकना कम होता जाएगा, वैसे-वैसे ब्रह्म की ओर आकर्षण बढ़ता जाएगा। विश्वास कीजिए, वह भी आपके पास आने को उतना ही लालायित है—सम्भवतः और भी अधिक—जितना आप उसको आत्मसात् करने के लिए। यदि आप संन्यास लेने के लिए आतुर हैं तो अवश्य लीजिए, पर गृहस्थाश्रम में भी लगन एवं पुरुषार्थ करने पर आप अवश्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और दोनों आश्रमों में एक ब्रह्मनिष्ठ गुरु की नितान्त आवश्यकता है।

कथा है, एक महात्मा किसी वृक्ष के नीचे ध्यान जमाए बैठे थे। ऊपर से एक पक्षी ने बीट कर दी। महात्मा जी ने क्रुद्ध होकर ऊपर देखा, पंछी भस्म होकर नीचे गिर गया। महात्मा जी अपनी शक्ति देख प्रसन्न हुए। कुछ समय बाद भिक्षा लेने निकले। एक दरवाजे पर दस्तक देकर भिक्षा माँगी। गृहलक्ष्मी अपने रोगी पति की सेवा में व्यस्त थी। उसने क्षमा-याचना की और कुछ समय माँगा। थोड़ी देर बाद महात्मा जी ने कुछ रुष्ट होकर उलाहना दिया, "इतनी देर?" अन्दर से स्त्री ने कहा, "महाराज, क्रोध न करें। मैं कोई चिड़िया नहीं हूँ जो भस्म हो जाऊँगी।" महात्मा जी यह सुनकर दंग रह गए। इतने में वह भिक्षा लेकर आ गई और क्षमा माँगते हुए बताया, "महाराज, मेरे पति रोगग्रस्त हैं इसलिए विलम्ब हो गया।" यह प्रताप कर्तव्य-कर्म का पालन करने का है।

राजा जनक से बढ़कर और कौन व्यस्त होगा। पर वे सारे कर्म निःसंग भाव से करते थे। उनके गुरु **महर्षि अष्टावक्र ने अष्टावक्र** गीता में उनको उपदेश देते हुए बताया कि "हे राजन्! तू निःसंग है, सबके बन्धनों से और सारे कर्मों से भी तू रहित है। अहं-बुद्धि आते ही बन्धन प्रारम्भ हो जाता है—**निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः।**" जनक ऐसे ब्रह्मनिष्ठ गुरु के अमृत-वचनों से धन्य हो कहते हैं :

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत्।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन॥

'हे गुरुदेव! मेरी आत्मा से ही सारा जगत प्रकाशवान् है। आपकी अनुपम कृपा से ही यह आत्मा मुझे प्रत्यक्ष प्रकाशयुक्त दिखाई दे रही है। जड़ वस्तुएँ भी सजीव नज़र आ रही हैं।' ऐसे ही भक्त कबीर कहते हैं—

आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ॥

सन्त मौलाना फ़ज़ल अहमद खाँ साहिब का भी ऐसा ही नूरानी अनुभव है—

अव्वले मा आख़िरे हर मुन्तहीस्त।
आख़िरे मा ज़ेबे तमन्ना तहीस्त॥

जिसको अन्य योगी अपनी आखिरी मंज़िल मानते है, वहाँ से हम शुरू करते हैं और वह मंज़िल है समस्त इच्छाओं से पूर्णरूपेण मुक्ति। न स्वर्ग की इच्छा, न योगसिद्धि की, न ऋद्धि-सिद्धि की, न मुक्ति की; तमन्नाओं से, इच्छाओं से सदा जेब खाली, ऐसी आत्मसात् मेरी गहरी अवस्था है।

यदि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने हेतु, संन्यास लेकर सारा समय गुरु के आदेशों पर चलते हुए ध्यान में लगाया जा सके—इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है। पर जो ज्ञानमार्ग पर चलना कठिन समझते हैं, उनको हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं है, और भी अन्य मार्ग अपना सकते हैं। ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जिनसे यह पता चलता है कि अनेक गृहस्थ अपने कर्तव्य-कर्म का पालन करते हुए, निष्काम कर्म द्वारा, समत्व के अभ्यास द्वारा, अथवा आपने इष्टदेव की अनन्य भक्ति के बल पर परमपद को प्राप्त करने में सफल हुए हैं।

2. आध्यात्मिक ज्ञान अभाज्य अनुभव है

मुण्डकोपनिषद् ने अन्य उपनिषदो से कुछ हटकर एक बड़ी मौलिक एवं मार्मिक बात कही है। साधारण धारणा यह है कि किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने

के लिए एक-एक सीढ़ी चढ़ना चाहिए; छलाँग मारना ठीक नहीं है। **छान्दोग्योपनिषद्** के सातवें प्रपाठक में **सनत्कुमार-नारद** का बड़ा सुन्दर सम्वाद है। महर्षि नारद भगवान् सनत्कुमार के पास ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने गए और जब उन्होंने नारद से पूछा कि अब तक तुमने क्या-क्या अध्ययन किया है तो महर्षि ने वेद, शास्त्र, व्याकरण, छन्द, धनुर्विद्या, आदि की एक लम्बी तालिका गिना दी। **सनत्कुमार जी** ने कहा कि 'तूने शब्द-ज्ञान तो प्राप्त किया है, पर अभी आत्म-ज्ञान से दूर है। पर तू नाम की उपासना से शुरू कर, यह सीढ़ी का पहला पाया है, पर यहाँ रुक मत!' और भूमा—ब्रह्म—तक पहुँचने के लिए सोलह और सीढियाँ बता दीं—वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण, सत् और भूमा अथवा आत्मा। अन्त में **सनत्कुमार जी** ने कहा कि इन सबकी क्रमशः उपासना करने के पश्चात् तू भूमा को जानने का प्रयत्न कर, वही परमानन्द है—**यो वै भूमा तत्सुखम्**—जो भूमा है, असीम है, अनन्त है, महान् है, वही सुख है; **'न अल्पे सुखमस्ति'**—जो 'अल्प' है, सीमित है, परिमित है, क्षुद्र है, उसमें सुख कहाँ। इसी तरह **प्रश्नोपनिषद्** मे **सुकेशा** ने छठे और अन्तिम प्रश्न में सोलह कलाओं वाले 'पुरुष' के विषय मे पूछा और **पिप्पलाद** ऋषि ने बताया : हे सौम्य! वह सोलह कलाओं वाला पुरुष इसी शरीर के अन्दर है—**'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति'** और उनकी सोलह कलाओं का विस्तार से वर्णन किया।

इस उपनिषद् में **अंगिरा ऋषि**, मुमुक्षु शौनक को उपदेश देते हैं कि कर्मकाण्ड-प्रधान शास्त्र आदि सब अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं। इनको पढने से ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। जिससे ब्रह्म की प्राप्ति हो, वह परा विद्या है। सबसे पहले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए, तभी कोई किसी विषय का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकेगा, अन्यथा अपरा विद्या की सारी जानकारी अविद्या से आच्छादित रहेगी। आप किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा विषय को ठीक ठीक समझ नहीं पाएँगे। जो अनित्य है उसको नित्य मानकर चलेंगे, जो मिथ्या है उसको सत्य समझ लेंगे, जो दुःख का कारण है उसे आप आनन्द का केन्द्र मान सकते हैं। आपकी सारी जानकारी अनुमानित, स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश हो सकती है। प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता एवं सच्चा स्वरूप तो आत्मज्ञान होने के बाद ही प्रकट हो सकेगा, और यह सबसे पहले होना चाहिए। सारा जीवन अपरा विद्या की भूलभुलैयों में गँवाने से जब आपका जीवन के प्रति दृष्टिकोण पूरी तरह दूषित हो जाएगा, तत्पश्चात् एक तो ब्रह्म की ओर उन्मुख होना दुष्कर है, और यदि उधर ध्यान सौभाग्यवश चला भी गया तो पहले तो बहुत-कुछ जो सीखा है

उसको भुलाना होगा, उसके बाद किसी गुरु के संरक्षण में पराविद्या प्राप्त करनी होगी। इसीलिए **स्वामी शिवानन्द जी** अपरा विद्या को अज्ञान कहते हैं। उपनिषत्कार यह भी कहते हैं कि जहाँ तक ब्रह्मविद्या का प्रश्न है वह पढ़ने-लिखने से नहीं आ सकती, वह किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु के श्रीमुख द्वारा ही मिल सकती है और उसके लिए संन्यास लेना आवश्यक है।

जैसे **छान्दोग्योपनिषद्** में **ऋषि उद्दालक** अपने पुत्र से पूछते हैं : "सौम्य! क्या तुमने अपने गुरु से ऐसी विद्या सीखी है जिसके जानने से सब-कुछ जाना जा सकता है?" वैसे यहाँ शौनक अपने गुरु से वही प्रश्न पूछते हैं। यदि एक विद्या जानने से समस्त विद्याएँ आ सकती हैं तो इसका अर्थ यही हुआ कि 'विद्या' का स्रोत एक ही है। साधारणतया यदि मैं गणित में पारंगत हो जाऊँ तो मुझे अर्थशास्त्र आदि का तो ज्ञान नहीं हो सकता। पर 'ब्रह्मज्ञान' की तो बात ही निराली है। यह तो केवल 'ज्ञान' है, इस विषय या उस विषय का ज्ञान नहीं, और 'ज्ञान' अभाज्य है, इसको भिन्न-भिन्न भागों में बाँटा नहीं जा सकता। यहाँ 'ज्ञान', ज्ञाता और ज्ञेय एकाकार हो जाते हैं, जाननेवाले और जो जाना जाता है उनमें भेद नहीं रह पाता, कर्ता, कार्य और कारण सब एक हो जाते है, उनमें कोई अन्तर नहीं रहता, एकमात्र 'चेतना' होती है जिसमें सब-कुछ घुलमिल जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान एक अभाज्य अनुभव है; यह बुद्धि-स्तर पर नहीं होता, अन्तःप्रज्ञा द्वारा होता है जो मन-बुद्धि आदि से परे है। यह स्थूल तथा सूक्ष्म जानकारी से ऊपर, सारी सृष्टि के मूल कारण का रहस्यमय ज्ञान है, गूँगे का गुड़ है। गूँगा उसके स्वाद का कैसे वर्णन कर सकेगा!

फिर भी शौनक को उस ब्रह्म का अनुमान लगाने के लिए ऋषि उसकी व्याख्या करते हैं—वह ज्ञानेन्द्रियों की पहुँच के बाहर है, देखा-सुना नहीं जा सकता। वह कर्मेन्द्रियों का भी विषय नहीं है, उसको पकड़ा नहीं जा सकता। न उसकी कोई ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, न कर्मेन्द्रियाँ। रंग-रूप से रहित होने के कारण वह वर्णातीत है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, सनातन है, सर्वव्यापक है—**यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम-गोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं**"(I-16)। हम ब्रह्म का विवरण बार-बार पढ़ चुके हैं, और पढ़ते रहेंगे, सारे उपनिषदों का मुख्य विषय तो वही है। ब्रह्म के लक्षण भी वही रहेगे। विभिन्न ऋषियों के कहने का ढंग अलग-अलग है। किसी का अत्यन्त विलक्षण एवं चमत्कारिक हो सकता है; क्या पता किसका कौन-सा कथन चुभ जाए, हमारे हृदय-पटल पर अंकित हो जाए। उसे यदि बार-बार पढ़ना पड़े तो उससे लाभ ही होगा, हमारा कल्याण ही होगा। सृष्टि की उत्पत्ति का विषय भी ब्रह्म के साथ ही जुड़ा हुआ है और हमारे

ऋषियों ने उसकी विस्तृत व्याख्या की है जिसके समक्ष पाश्चात्य वैज्ञानिकों का 'बिग बैंग' और 'स्टेडी स्टेट' का निरूपण फीका-सा लगता है। दोनों की परिकल्पना का स्तर ही नितान्त भिन्न है।

अंगिरा ऋषि का इस सम्बन्ध में विषय-विस्तार एकदम अनूठा है। पिछले मन्त्र का अन्तिम भाग हमने छोड़ दिया था, उसमें कहा गया है—**यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः**—वह सब भूतों का, सृष्टि का, कारण है और धीर लोग 'परा' विद्या से उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं। अगले मन्त्र में तीन बड़ी उपयुक्त उपमाओं द्वारा इस भाव की व्याख्या करते हैं। जैसे मकड़ी अपने-आप में से जाला बुनती है और फिर अपने अन्दर समेट लेती है, जैसे पृथ्वी से वनस्पतियाँ उत्पन्न होती है, जैसे जीवित पुरुष के शरीर पर केश-लोम उत्पन्न होते हैं, उसी तरह अक्षर-ब्रह्म के प्रकृति-रूपी शरीर से सृष्टि उत्पन्न होती है। तीनों स्थितियों में रूपान्तरण नहीं होता, प्रक्षेपण होता है। पहली उपमा यह स्पष्ट करती है कि सृष्टि का भौतिक कारण भी केवल ब्रह्म है, वह अपने कारण से भिन्न नहीं है, उसी का दूसरा रूप है। दूसरे उदाहरण से यह पता चलता है कि जो दिखाई देता है वह मूल कारण का आविर्भाव है, और तीसरी उपमा यह दर्शाती है कि जो जड पदार्थ दिखाई देते हैं उनकी उत्पत्ति भी चेतन से होती है।

वह चेतन ब्रह्म 'तप' द्वारा विकसित हुआ, इसका विस्तार हुआ। क्रमश विकसित होते-होते वह अन्न तक पहुँच गया—**तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते** (I-18)। इसकी व्याख्या **छान्दोग्योपनिषद्** तथा प्रश्नोपनिषद में भी को जा चुकी है। **छान्दोग्योपनिषद्** में भगवान् सनत्कुमार महर्षि नारद को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए 'नाम' से आरम्भ करके अन्न तक विस्तार करते हुए आगे की उपासनाएँ बताते भूमा (आत्मा, ब्रह्म) तक पहुँचते हैं। प्रश्नोपनिषद् में छठे प्रश्न के उत्तर में **ऋषि पिप्पलाद** सोलह कलाओं वाले 'पुरुष' का वर्णन करते हुए 'अन्न' की चर्चा करते हैं। हमारे ऋषि-मुनिगण विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक दोनों पद्धतियों में पारंगत थे। इस मन्त्रार्ध में मुख्य शब्द 'तप' है। यहाँ 'तप' का अर्थ अन्तःकरण की शुद्धि के लिए घोर तपस्या नहीं, न ही '**गीता**' की भाँति यह मन में उठनेवाली नित नई इच्छाओं का परिष्कार है। इस संदर्भ में 'तप' का अर्थ सृष्टि की योजना का ध्यान, उस पर चिन्तन-मनन, उसका ज्ञान, इच्छा और संकल्प हो सकता है। ब्रह्म की अन्तःशक्ति ही नाना नाम-रूपों में दिखाई दे रही है। वास्तव में ब्रह्म से भिन्न और कुछ नही है, हो सकता नहीं। जैसे **आदिशंकराचार्य** ने स्पष्टीकरण किया है कि स्वर्ण से बने भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के आभूषण, केवल स्वर्ण ही हैं, उसके अतिरिक्त

और कुछ नहीं हैं, हो सकते नहीं।

'वह' सर्वज्ञ है, सर्वत्र है, सर्वव्यापक है। जैसा हमारा 'तप' निष्काम कर्म के रूप में प्रकट होता है, 'उसका' तप 'ज्ञान' में प्रकट होता है—**यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः** (I–1.9)। यदि हम प्रतिदिन प्रातः–सायं ध्यान करने बैठें और ऐसा ध्यान करें जिससे हमें केवल 'अपना' ज्ञान हो, इस वस्तु, उस वस्तु, व्यक्ति, विषय का बिल्कुल ज्ञान न हो, वह विशुद्ध 'ज्ञान' है। जैसे–जैसे हम ऐसे ध्यान की, 'ज्ञान' की अवधि बढ़ाते जाएँगे—तीन घण्टे हो तो अच्छा है—हम 'ब्रह्मज्ञान' के समीप पहुँचते जाएँगे।

3. सब-कुछ ब्रह्माग्नि की चिंगारियाँ हैं

जैसे प्रचण्ड अग्नि से हज़ारों चिंगारियाँ निकलती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी तरह ब्रह्म से विभिन्न प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है और प्रलय के समय उसी में लीन हो जाती है। जो प्राणी ब्रह्म से निकले हैं वे सब उसी का अंश हैं, पर अविद्या के आवरण के कारण और अपने–अपने कर्मों के क्रम के अनुसार वे सब एक–दूसरे से अलग–अलग प्रतीत होते हैं, और अपने को ब्रह्म से भी विलग समझते हैं। उनके मन में उभरनेवाली इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, उनकी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियाँ, तरह–तरह के कर्म करने की ओर प्रेरित करती है, फिर वे जो करते हैं उसके फल की इच्छा करने लगते है। कर्मबीज बोने और उसकी फसल काटने के चक्कर में यह तथ्य कि हम जाज्वल्यमान ब्रह्म का अंश हैं, आँख से बिल्कुल ओझल हो जाता है। यही संसार है जहाँ आवागमन का सिलसिला चलता रहता है और तब तक जारी रहता है जब तक यह चिंगारी उस तेज में जिससे वह निकली थी, लीन नहीं हो जाती। जैसे भिन्न–भिन्न आकार–प्रकार के वृक्षों की जड़ें पृथ्वी में होती हैं, और वहीं से उन सबको पोषण मिलता है, उनके तने अलग–अलग होते हैं, फैलाव एवं मुकुट भी भिन्न, फूल और फल अलग–अलग, रूप–रंग एवं स्वाद भी अलग, पर सबका पोषण एक ही स्रोत से होता है। वे सारे वृक्ष पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, वहीं से अपना आहार ग्रहण करते हैं, उसी पृथ्वी में स्थित हैं और अन्त में उसी में मिल जाते हैं; उसी तरह समस्त जीवधारी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, उसी में स्थित हैं और ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।

सारी विभिन्नता एवं विस्तार का मूल कारण हैं इच्छाएँ, और उनकी पूर्ति-हेतु कर्म। एक तरह से ब्रह्म भी 'इच्छा' से एकदम मुक्त नहीं है; जब वह अकेला था तो उसने 'इच्छा' की थी ''मैं अनेक हो जाऊँ''—**एकोऽहं बहु स्याम्।**

वह 'पुरुष' दिव्य आभायुक्त होता हुआ भी अमूर्त है, वह बाहर है और अन्दर भी, संसार को तो उत्पन्न करता है पर स्वयं उत्पन्न नहीं होता, अजन्मा है, प्राण और मन से परे है; शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, अक्षर है पर उसका शुभ रूप अक्षर से भी आगे है; प्राण और मन दोनों की सीमा है, पर वह असीम है। 'अनेक हो जाऊँ' उसकी माया का खेल है, भुलावा है, वह 'अनेक' हुआ कहाँ, वह तो कल भी 'एक' था और आगे भी 'एक' और अद्वितीय रहेगा जिसमे न तो इच्छाशक्ति और न क्रियाशक्ति की कोई स्फूर्णा है, कम्पन है, पर उसी से मन, इन्द्रियाँ, पञ्चमहाभूत का आविर्भाव हुआ है—**अप्राणो ह्यमनः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः** (II-1.2)।

ऋषि फिर चैतन्य के विराट रूप की व्याख्या करते हैं जो अपनी सूक्ष्म, सृजनात्मक शक्ति द्वारा, जिसको हिरण्यगर्भ कहते हैं, सारी सृष्टि को गतिमान करता है। यह विराट सर्वोच्च से लेकर निम्नतम क्षेत्र तक, दाएँ-बाएँ, प्रत्येक दिशा में व्याप्त है। इस रूपक द्वारा सारी सृष्टि को जैसे एक सूत्र में बाँध दिया गया है और द्विविधता को पूर्णरूपेण समाप्त कर दिया गया है। उसी सार्वभौम सत्ता को कान ध्वनि के रूप में सुनते हैं, नेत्र रंग-रूप में देखते हैं, त्वचा स्पर्श करती है, जिह्वा स्वाद लेती है इत्यादि। सत्य एक है, इन्द्रियाँ विभिन्न प्रकार से उसका अनुभव करती हैं। जो आदर्श है, इन्द्रियाँ उसी की स्थूल रूप में अनुभूति करती हैं।

दूसरे शब्दों में, जब हम जो कुछ देखते-सुनते, चिन्तन-मनन करते हैं, तब हमे इस भावना को दृढ़ करना चाहिए कि हम उसी विराट का, उसी की दी हुई शक्तियों द्वारा अनुभव कर रहे हैं, उसके अतिरिक्त और कुछ अन्य है ही कहाँ? कुछ अभ्यास द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जहाँ कर्ता, कार्य और कारण, द्रष्टा, दृश्य और दिष्ट में कोई अन्तर नही रह जाएगा, क्योंकि वह 'अन्तर' है ही नहीं, केवल अविद्या के कारण भिन्नता दिखाई दे रही है। जिस विराट को **माण्डूक्योपनिषद्** में 'सप्ताङ्ग' कहा है, उसके विस्तार की **मुण्डक** ने चौथे मन्त्र में पूरी व्याख्या कर दी है (II-1.4)।

छठे मन्त्र में उपनिषत्कार बताते हैं कि उसी विराट पुरुष से **ऋक्, साम** और **यजुः** वेदों की उत्पत्ति हुई है। इन तीनों वेदों में दीक्षा लेकर यजमान संवत्सर तक यज्ञ तथा अन्य सब कर्म करता है—**तस्मादृचः सामयजूँषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च** अर्थात् ये तीन वेद ऋषि के मतानुसार अपौरुषेय हैं

स्वयं ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। साधक जप, तप और यज्ञादि सत्कर्म करने के बाद चन्द्र एव सूर्य के प्रकाशवान् लोकों को प्राप्त कर लेता है। इन 'लोको' द्वारा मृत्यु के बाद आत्मा के दक्षिणायन तथा उत्तरायण मार्गो की ओर संकेत किया गया है। **गीता** के आठवें अध्याय में (श्लोक 24-27) तथा **छान्दोग्योपनिषद्** के पाँचवें प्रपाठक के दसवें खण्ड में इन मार्गो का विशद विवेचन किया गया है, पर उसके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हमारा लक्ष्य तो इस जीवन मे आनन्द की खोज है। इस उपनिषद् के अनुसार वह केवल परा-विद्या अथवा ब्रह्मज्ञान द्वारा ही सम्भव है।

दूसरे मुण्डक के दूसरे खण्ड में एक और उपमा की सहायता से ऋषि बताते है कि जैसे रथ के अनेक अरे पहिए की नाभि में जुड़े होते है, जैसे शरीर की भिन्न-भिन्न नाडियाँ हृदय में संहत हो जाती हैं, वैसे ही अनेक रूपों में प्रकट होनेवाला यह विराट पुरुष हमारे हृदय में विराजमान है—**अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः** (II-2 6)। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ उसी के प्रकाश में क्रियाशील हैं, पर वह स्वयं कुछ नहीं करता। हम जो सुख-दु.ख आदि अनुभव करते हैं वह मन द्वारा होता है, पर हम उसमें अहं समाविष्ट कर उसको आत्मा का 'अनुभव' मान लेते हैं जो गुणातीत है। सत्त्व, रज, तम उसका स्वभाव नहीं है, मन के ही कार्यकलाप हैं। जैसे मन ने आत्मा की चोरी कर ली है, सब-कुछ करता वह है और थोप देता है आत्मा पर। प्रणव का, ओ का सहारा लेकर हमें उस पर, आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करना है, और इस अन्तर को भलीभाँति समझकर निरन्तर ब्रह्म को धारण करना है—यही 'ज्ञान' है जो सब भ्रान्तियों को हटाकर हमें ब्रह्म तक पहुँचा सकेगा। हमें 'आत्मा' को, 'मन' की पकड़ से दूर हटाना है और सारे कार्यकलापों को अन्तःकरण का व्यवहार समझकर उसके द्रष्टा बन उदासीन भाव से देखना है, उसमें लिप्त नहीं होना है।

मन और बुद्धि के सुनहरे कोष में जैसे हमारी आत्मा बन्दी बनकर रह गई है। इस सुनहरी म्यान से यह दैदीप्यमान आत्मा कहीं अधिक तेजवान् है। इससे अधिक प्रकाशवान् और कुछ है ही नही, हो ही नहीं सकता। यह कहीं दूर नहीं, हमारे हृदय में विद्यमान है, विराजमान है। इसका दर्शन करने के लिए हमें बुद्धि से ऊपर उठना होगा। देखा जाए तो 'उस' का अनुभव करने में बुद्धि सबसे बड़ी बाधा है। एक शायर ने ठीक ही कहा है—

अक़्ल को कर दिया नज़रे-जुनूँ।
उम्र भर में बस यही दानाई की।।

मैंने सारे जीवन में केवल एक ही बुद्धिमानी की है—अपनी अक़्ल को, बुद्धि को, 'पागलपन' के हवाले कर दिया है। अपनी साधना में हम सब चीजें— ममता-मोह, ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध-लोभ—छोड सकते हैं, पर 'बुद्धि' से, अहं से पीछा छुड़ाना सबसे अधिक कठिन है। जैसे-जैसे द्वैत दूर होता जाता है, हम अद्वैत के, आत्मा के, ब्रह्म के, निकट आते जाते है।

ब्रह्म के सच्चे स्वरूप का पुनः स्पष्टीकरण करते हुए दूसरे मुण्डक के दूसरे खण्ड का दसवाँ मन्त्र कहता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

अर्थात्, 'वहाँ सूर्य, चन्द्र, तारे, बिजली कुछ भी नहीं चमकता, यानि उसकी ज्योति के सामने इन सब का प्रकाश क्षीण हो जाता है, अग्नि की तो गिनती ही क्या है। उसी की ज्योति से यह सब तथा समस्त सृष्टि प्रकाशित हो रही है।' ऐसा कहकर उस जाज्वल्यमान ब्रह्म के तेज का किंचित् आभास देने का प्रयत्न किया गया है। ठीक यही मन्त्र **कठोपनिषद्** की पश्चिम वल्ली में (15वाँ श्लोक) दिया गया है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय के छठे श्लोक में भी इससे मिलता-जुलता भाव दर्शाया गया है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता XV-6)

"उसको सूर्य, चन्द्र, अग्नि कोई भी प्रकाशित नहीं करता, कर सकता नहीं, क्योंकि वे सब उसी से प्रकाशित होते हैं।" भगवान् **कृष्ण** कहते हैं, "मेरे उस धाम तक पहुँचकर फिर कोई वापस नहीं लौटता, वह जीवन-मरण के चक्कर से छूटकर मुझमें ही लीन हो जाता है।"

बार-बार बताया जा चुका है कि ब्रह्म भाषा का विषय नहीं है, वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। फिर भी सारे उपनिषद् अपने-अपने ढंग से उसे विस्तारपूर्वक समझाने का प्रयत्न करते हैं। हम जिस धरती पर गिरते हैं, उसी के सहारे उठते हैं। 'वह' वाणी से, बुद्धि से परे है, पर उसका शब्दज्ञान प्राप्त करने के लिए इन दोनों की सहायता लेनी होती है। कहा भी है कि 'वह' बुद्धि की सोने की म्यान में सुरक्षित है और 'उसे' उस म्यान से बाहर निकालना है। जब थोड़ा-बहुत शब्दज्ञान हो जाए, भिन्न-भिन्न उपमाओं और रूपकों द्वारा 'उस' का कुछ

अनुमान लग जाए, तब अखण्ड ध्यान द्वारा किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास बैठकर 'आत्मज्ञान' हो सकता है।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

दुनिया के मोहजाल को, यत्नों से तोड़ दे,
सम्बन्ध ज़िन्दगी का, प्रीतम से जोड़ ले;
सच्चा नहीं व्यापार तो व्यापार क्या किया
ईश्वर से प्यार ना किया, तो प्यार क्या किया॥

4. आत्मा और परमात्मा के मिलने का मार्ग

उससे प्यार कैसे करें? यह भी प्रत्येक उपनिषद् समझाने का भरसक प्रयत्न करता है, अनूठी उपमाओं द्वारा उसका स्पष्टीकरण करता है—क्या पता किसको कौन-सी युक्ति भा जाए और तीर ठीक लक्ष्य पर बैठ जाए! **मुण्डकोपनिषद्** परामर्श देता है कि पहले तैयारी के तौर पर उपनिषदों का बार-बार अध्ययन करो, विकारों को दूर कर अपने मन एवं बुद्धि को निर्मल बनाओ। अशुद्ध वेशभूषा में तो आप किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से भी भेंट करने नहीं जाते, यहाँ तो 'ब्रह्म' से मिलने का लक्ष्य है। चिन्तन-मनन द्वारा मन और बुद्धि को पूर्णतः परिष्कृत करें। फिर प्रणव, ओं के धनुष पर जीवात्मा का तीर चढ़ाकर बड़ी सावधानी से ब्रह्म के लक्ष्य की ओर छोड़ दें जिससे आत्मा और परमात्मा एक हो जाएँ।

ओं ब्रह्म का प्रतीक है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सारे देवी-देवता इसमें समाहित हैं। हम पहले ही विस्तार से पहले इसकी व्याख्या कर चुके हैं। **माण्डूक्योपनिषद्** के सबसे पहले कुछ मन्त्रों में तथा अन्य कई जगह इसके अर्थ को विस्तार से समझाया गया है। उसका पहला मन्त्र कहता है—इस एक छोटे-से अक्षर में सारा संसार, भूत-वर्तमान-भविष्यत् समाया हुआ है, सब उसी एक ओंकार का विस्तार है। जो इन तीनों कालों में नहीं समाता, जो त्रिकालातीत है, वह भी ओंकार का ही प्रसार है। दूसरा मन्त्र स्पष्टीकरण करते हुए बताता है—यह सारा ब्रह्माण्ड 'ब्रह्म' है अर्थात् 'ब्रह्म' का ही विस्तार है। इसी तरह हम सब का 'पिण्ड', शरीर, भी 'ब्रह्म' है और ब्रह्म की भाँति पिण्ड में जीव का विस्तार है—**सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म**—यह सब-कुछ ही ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म

है। जब साधक ओं पर ध्यान जमाता है, उसका मन स्वतः शुद्ध हो जाता है। हम जैसा ध्यान करते हैं हमारा मन उसी के अनुरूप गढ़ता जाता है, अतः ओं पर ध्यान करने से हम ओं-मय, ब्रह्म-मय होने लगते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

जीवात्मा की तीर से तुलना की गई है जिसे लक्ष्य भेदना है, क्योंकि आत्मा ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है जिसे ब्रह्म में लीन होना है और जो अखण्ड एकाग्रता एवं ध्यान द्वारा सम्भव है। इस उपमा में बाण धनुष से निकलकर बाहर नहीं जाता, अन्दर की ओर जाता है क्योंकि लक्ष्य बाहर नहीं है, अन्दर है। हमें ब्रह्मानुभूति के लिए कहीं बाहर तो जाना नहीं है, अन्तर्मुखी होना है, अपने-आपको ही समझना है—क्योंकि यह आत्मा ही ब्रह्म है। वस्तुतः यह 'ध्यान' भी नहीं कहा जा सकता, 'ध्यान' में कुछ द्वैत-भाव आ जाता है, जैसे हम किसी अन्य विषय-वस्तु का, जो हमसे अलग है, भिन्न है, उसका ध्यान कर रहे हैं। यहाँ हमसे दूर तो कोई दूसरी वस्तु है नही, अपने-आप में डुबकी लगाना है, अपने में ही अपने मन को केन्द्रित करना है। ऐसे भाव को व्यक्त करने की चेष्टा में भाषा की अपूर्णता का आभास खलने लगता है। ब्रह्म को 'लक्ष्य' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि लक्ष्य बाण से कहीं दूर है जैसा साधारणतया होता है, या उसका कोई रूप है। ध्यान भी किसी वाह्य वस्तु पर नहीं टिकाना है। फिर करना क्या है? एक युक्ति बताते हैं—आप अन्य वस्तुओं से ध्यान हटा लीजिए। आप प्रायः वस्तुओं-विषयो का ही ध्यान करते हैं, जिनकी आपको इच्छा होती है, जो आप चाहते हैं, यानी आपकी इन्द्रियाँ, आपका मन चाहता है। निष्कर्ष यह निकला कि आप अपनी इच्छाओं को कम करना शुरू करें। आपका अन्तःकरण तो निर्मल है, शुद्ध-बुद्ध है, उस स्फटिक जैसे मन-बुद्धि-चित्त पर विषय-भोग की, इच्छाओं की गर्द जम गई है। वैराग्य के कपड़े से उस गर्द को हटा दीजिए, उस दर्पण को साफ़ कर दीजिए।

जहाँ आपने कोई इच्छा की, द्वैत-भाव सामने आ गया, और जितनी इच्छाओं का अम्बार, ढेर, आप खड़ा करते जाएँगे उतनी ही धूल इकट्ठी होती जाएगी। साथ ही, जैसे-जैसे आपकी सांसारिक इच्छाएँ कम होती जाएँगी, आप अद्वैत ब्रह्म के समीप होते जाएँगे। **प्रेम-गली अति साँकरी, या में दो न समायँ**—चयन आपको करना है—सांसारिक इच्छाओं को पूरा करना है या ब्रह्म-ज्ञान की ओर उन्मुख होना है; आपको अनन्त, असीम के लिए सान्त और सीमित को छोड़ना है या आने-जानेवाले क्षणभंगुर सुख के लिए **सत्यं-ज्ञानम्-अनन्तम्** को त्यागना है। यदि आप ब्रह्म-ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं और आपको थोड़ी-थोड़ी सफलता ही मिलती है तो आपकी सारी इच्छाओं के पूर्ण होने की निश्चित

सम्भावना है, अतः यह सौदा बुरा नहीं है। और यदि आपके अन्त.करण मे आत्मज्ञान की ज्योति जाग गई तो अभाव, अशान्ति, दुःख और दरिद्रता तो ऐसे लोप हो जाएँगे जैसे सूर्य की किरण आने से अंधकार पलायन कर जाता है। उपनिषत्कार विश्वास दिलाते हैं कि आप सातों लोकों के स्वामी हो जाएँगे, आपकी सारी जानी-अनजानी, जन्म-जन्मान्तर की इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी। हम आज जिस मानसिक स्थिति में हैं, यह उसके लिए केवल प्रलोभन-मात्र है। जब आप पूर्ण होकर 'पूर्ण' के साथ आत्मसात् हो जाएँगे तो अन्य किसी इच्छा के उद्रेक का प्रश्न ही नहीं उठता—वह सब पूर्ण है, यह सब पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण उत्पन्न हुआ, पूर्ण में से पूर्ण लेने के बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है—**ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।** अनिर्वचनीय, अनिर्वर्णीय स्थिति है वह, कुछ कहा नहीं जा सकता उस अनुभव के विषय में।

यदि इच्छाओं का त्याग दुष्कर लगता है—यद्यपि ऐसा है नहीं, हमें उनको छोड़कर जो मिलता है उसका स्वाद नहीं आया है—तो ऋषि एक और मार्ग बताते हैं—सत्य को अपनाओ, असत्य को नहीं, क्योंकि सत्य की सदैव विजय होती है—**सत्यमेव जयते नानृतं** (III-1 6)। सत्य का सहारा लेकर भी आप 'ब्रह्म' को पा सकते हैं। यह मार्ग तो बहुत सीधा-सादा और सुलभ लगता है। इसका अभिप्राय केवल सच बोलने पर ही समाप्त नहीं हो जाता; हमें सदा 'सत्' को पकड़ना है और असत्य को छोड़ना है। 'सत्' वह है जो जैसा आज है वैसा ही कल था और आगे भी वैसा ही रहेगा। अब आप प्रत्येक वस्तु-व्यक्ति-विषय का निरीक्षण-विश्लेषण कर देखते जाइए—क्या ये पति-पत्नी-पुत्र जैसे कल थे वैसे ही आज हैं, और आगे भी ऐसे ही रहेंगे? क्या यह बाड़ी-गाड़ी आदि जैसे आज दिखते हैं वैसे ही पहले थे और भविष्य में भी ऐसे ही रहेंगे? दूर क्यों जाएँ, स्वयं अपने-आपको देखिए—जैसे आप अब हैं वैसे ही सदा थे और कल भी वैसे ही रहेंगे? अरे, हम कैसी भ्रान्ति में पड़े हुए थे और आज भी वही भूल कर रहे हैं। यह सब, सारा जगत, सगे-सम्बन्धी, प्रिय वस्तुएँ, विषय और व्यक्ति तो पल-पल क्षण-क्षण बदल रहे हैं, परिवर्तित हो रहे हैं। हम उसी व्यक्ति से दोबारा नही मिलते, हम उसी नदी में पुनः नहीं उतरते। कल जिस व्यक्ति से हम मिले थे, आज उसी व्यक्ति के आचार-विचार-व्यवहार में न जाने कितना अन्तर आ गया है। आज हम डाकू अंगुलिमाल से मिल रहे हैं, कल वही एक सन्त हो गया। आज जिस नदी में हमने स्नान किया था, वह जल न जाने कहाँ चला गया। हम जिसको सत्य मानकर चल रहे हैं वह सत्य नहीं है। हमें अपने 'सत्य' की

परिभाषा बदलनी होगी। गीता में कहा गया है—**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** (II-16) असत्य का कभी अस्तित्व नहीं था और सत्य का अभाव नहीं है—यह सत्यासत्य की खरी कसौटी है। अब आपके हृदय में कभी किसी विषय के बारे में यह द्विविधा हो कि यह 'सत्' है या 'असत्' तो गीता के इस अर्धश्लोक की कसौटी पर कसकर परख लें। इस परिवर्तनशील जगत में कौन-सी सत्ता है जो सदा अपरिवर्तित रूप में विद्यमान रहती है? वही 'सत्' है, उसी को पकड़ें। जिसको आप बदलता हुआ पाएँ, उसका बहिष्कार करते चलें, उससे न चिपके। मेरा शरीर, उसकी प्रत्येक कोशिका निरन्तर बदल रही है। मेरे मन की चंचलता का तो कोई पारावार ही नहीं। हाँ, मेरी आत्मा है जिसके प्रकाश में सब-कुछ हो रहा है पर जो स्वयं कुछ नहीं करती, असङ्ग है, अछूती है, अपरिवर्तित है, सत् है, जो जैसी पहले थी आज भी है और सदैव रहेगी। हमें इस आत्मा से ही प्रेम करना है, इसी को जानना है, इसी का अनुभव करना है, तभी हमारी विजय होगी, जैसे लौट-फिरकर हम वहीं आ गए—अपनी आत्मा को जानो, ब्रह्म को जानो।

हम सब समझदार हैं फिर भी हमें असीम और ससीम के बीच चयन करने में इतना विलम्ब क्यों होता है? विकारों से छुटकारा प्राप्त करने में इतना समय क्यों लगता है? जब हमारा व्यक्तिगत अनुभव निरन्तर यह बताता है कि कोई भी विकार क्यों न हो, उससे सबसे अधिक वेदना तो हमें स्वयं होती है, किसी अन्य को कम। कभी-कभी तो विकार-रहित होने, अपने मन को, चित्त को निर्मल बनाने में, आनन्द की ओर अग्रसर होने में, पूरा जीवन निकल जाता है। इस विडम्बना के कुछ कारण तो समझ में आते हैं—एक तो यह कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ना उनका स्वभाव है। **एकोनविंशतिमुखः**—यह एक नहीं, दो नहीं, उन्नीस मुखों से भोग भोगती है। जाग्रतावस्था में यह **बहिःप्रज्ञः** और स्वप्नावस्था में **अन्तःप्रज्ञः** होती हैं। इस विषय का विवेचन हम **माण्डूक्योपनिषद्** में कर चुके हैं। उनको अन्तर्मुखी करने में समय लगना ही है। दूसरे, इन्द्रिय-सुख तो तत्काल मिल जाता है, वह कितना ही अस्थायी क्यों न हो; पर आत्मानन्द से हमारी कभी जान-पहचान हुई ही नहीं, हमने—या हममें से अधिकांश ने—उसका स्वाद कभी चखा ही नहीं, हम उससे एकदम अनभिज्ञ हैं, कहा-सुना, पढ़ा-लिखा बहुत है, पर उसे कभी 'अनुभव' करने का सौभाग्य विरलों को ही प्राप्त हुआ है। तीसरे, हमने उस आनन्द को प्राप्त करने की कभी सच्ची ईमानदारी से चेष्टा भी नहीं की—जैसा गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—लाखों में कुछ ही लोग मेरा ध्यान करते हैं, और उनमे

से इक्का-दुक्का ही मुझ तक पहुँचते है।

मुण्डकोपनिषद् ने इस तथ्य को एक रूपक द्वारा समझाया है। ऋषि कहते हैं—एक वृक्ष पर दो मित्र-पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक तो वृक्ष के मीठे-तीखे फल खाकर आनन्द लेता है, दूसरा इस साथी को देखता-मात्र है पर कोई फल चखता नहीं। उसी तरह इस शरीर-रूपी वृक्ष में दो पक्षी बैठे हैं, एक तो विषय-भोग मे डूबा हुआ है और कभी-कभी शोकाकुल हो जाता है, दूसरा अपने इस साथी को देखता है पर **राग-भय-क्रोध** से तटस्थ रहता है और **ईशम्**, परमात्मा की महिमा में मस्त रहता है (III-1-1, 2)। एक पक्षी जीव है जो सांसारिक सुख में रमा रहता है, दूसरा आत्मा है जो निर्विकार, निर्लिप्त सब-कुछ देखता है। यह रूपक ऐसा लगता है हमारे ऋषियों को बहुत रुचिकर था। **श्वेताश्वतर-उपनिषद्** मे भी (IV-6) ठीक यही बात कही गई है—सुन्दर पंखोंवाले दो मित्र-पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। एक तो वृक्ष के फलों का स्वाद लेने में मग्न है, दूसरा कुछ खाता नहीं, अपने साथी को देखता रहता है। जीव और परमात्मा दो पक्षी हैं, वे शरीररूपी वृक्ष में निवास करते हैं। जीव इन्द्रियो तथा अन्तःकरण से प्रेरित हो कर्मफल भोगता है, परमात्मा यह सब साक्षी-भाव से देखता रहता है। अथवा, इस संसाररूपी वृक्ष में दो प्रकार के प्राणी हैं। एक भोगविलास में लिप्त रहते हैं और अपने कर्म-फल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेते है; और कुछ ऐसे सौभाग्यवान् हैं जो केवल द्रष्टा-भाव से सारे कार्यकलाप देखते रहते हैं और लिप्त नहीं होते।

1. आश्रमों के उत्तरदायित्व

कठोपनिषद् अत्यन्त लोकप्रिय एवं रुचिकर उपनिषद् है। भारत मे ही नहीं, विश्व के अन्य देशों के विद्वान् भी इसे बहुत पसन्द करते हैं। यह संसार के दार्शनिक साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है। यूरोप के देशों से इसका परिचय सबसे पहले राजा राममोहन राय ने कराया। उसके बाद इसका अनुवाद अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच आदि कितनी ही भाषाओं में हो चुका है। इसमें आत्मा-परमात्मा के शाश्वत तथा गूढ़ रहस्यों को बड़ी सुन्दर कथा के माध्यम से बताया गया है। यह उपनिषद् **कृष्ण यजुर्वेद** की कथा-शाखा का भाग है। **ऋग्वेद** के दसवें मण्डल (I-135) मे भी इसकी चर्चा है। मूल कथा कुछ हेर-फेर के साथ **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (III-1.8) से ली गई है। इसके कुछ श्लोक **गीता** में भी मिलते हैं। कुछ विद्वान् तो इसको भारतीय दर्शन की सर्वोच्च पुस्तक मानते हैं। इसमें प्रस्तुत विचारों का औदात्य, अभिव्यंजना की गरिमा तथा अलंकारों का सौन्दर्य पढ़ते ही बनता है—शरीर एक रथ के समान है, ज्ञानेन्द्रियाँ इसके घोड़े है जो विषयों की सड़क पर उद्दण्ड दौड़ रहे हैं, जीवात्मा सारथी है जो बुद्धि-विवेक की लगाम से इन घोड़ों को नियंत्रित करता है ताकि वे कुमार्ग को त्याग आत्मान्वेषण के सुमार्ग पर चलें। एक अन्य स्थान पर ऋषि ताड़ित करते हैं—**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** (I.3.14)—'अरे उठ खड़े हो, अज्ञान की निद्रा से जागो और ब्रह्म-विद् विद्वानों के पास बैठकर भलीभाँति ब्रह्म को जानो!' ऐसे ओजपूर्ण स्पष्ट आदेश अन्यत्र कम ही देखने को मिलते हैं।

कथा है : एक वृद्ध पिता **वाजश्रवा** की, जो मुक्ति की कामना हेतु अपना धन-धान्य सब दान में देता है। उसका बालक पुत्र नचिकेता देखता है कि पिता तो बूढ़ी, बाँझ, दुग्धहीना गौएँ दान में दे रहे हैं। इससे तो उनको मोक्ष का फल प्राप्त होगा नही। उनको तो उत्तमोत्तम वस्तुओं को दक्षिणा मे देना चाहिए। अतः वह अपने पिता से पूछ बैठता है : "पिताजी, आप मुझे किसे दान में देंगे?"

पिता उसका आशय समझ जाते हैं, पर उसकी बात अनसुनी कर देते हैं। जब बालक तीसरी बार वही प्रश्न करता है तो वह क्रुद्ध हो कहते हैं : "मैं तुझे यमराज को दूँगा।" नचिकेता पिता के शब्दों को पकड़ लेता है और यमलोक जाने की तैयारी करता है। पिता बहुत दुःखी होते हैं, पर वह एक नहीं सुनता और प्रस्थान कर देता है। यमराज अपने निवास पर नहीं हैं। अन्य कर्मचारी उसको भोजनादि के लिए आग्रह करते हैं, पर वह तीन दिन और तीन रात भूखा-प्यासा यम के द्वार पर पड़ा रहता है। जब **यमराज** लौटते हैं और उनको पता चलता है कि एक ब्राह्मण-बालक तीन दिन-रात उपवास किए उनके द्वार पर पड़ा रहा तो वह घबरा जाते हैं और अपनी धर्मपत्नी के साथ विधिपूर्वक उसका आदर-सत्कार कर उससे तीन वर माँगने को कहते हैं।

नचिकेता पहला वर माँगता है कि वह जीवित अपने घर लौट जाए और पिता उसको क्षमा कर दें। "तथास्तु! दूसरा वर माँगो!" यमराज कहते हैं। बालक कहता है : "हे यमराज, स्वर्गलोक में न जरा है, न मृत्यु का भय, आप स्वर्ग देनेवाली 'अग्नि' को जानते हैं, कृपया मुझे उसका उपदेश दीजिए—

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं" *(I-1.13)*

और यमराज न केवल नचिकेता को स्वर्गसाधक 'अग्नि' का उपदेश देते हैं अपितु यह भी वर देते हैं कि यह 'अग्नि' तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगी—**तवैव नाम्ना भवितायमग्निः**। (1.1.16) जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में **'नचिकेता अग्नि'** की उपासना करेगा, अर्थात् कर्तव्य-कर्म का विधिवत् पालन करेगा, और किसी एक आश्रम में ही नहीं अटक जाएगा, उसे निश्चय ही अपूर्व शान्ति की प्राप्त होगी। अधिकांश लोग गृहस्थ में ही फँसकर रह जाते हैं। वे सारी ममता-मोह त्यागकर, सब-कुछ काम-धन्धा अपनी सन्तान को सौंपकर भी ब्रह्म-ज्ञान की ओर उन्मुख नहीं होते। उनको 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' का फल नहीं मिलता।

नचिकेता तीसरे वर-स्वरूप पूछता है कि मनुष्य मृत्यु के बाद कहाँ जाता है, अथवा जीवन-मृत्यु का रहस्य क्या है? यमराज कहते हैं, "यह अत्यन्त रहस्यमय विषय है, तू इसको जानने का आग्रह न कर, अन्य कुछ वर माँग ले, मैं तुझे धन-धान्य, पृथ्वी के बड़े भाग का शासन, दीर्घायु, जो तू कहे सब देने को तैयार हूँ, पर यह वर न माँग।" नचिकेता सारे प्रलोभन ठुकरा देता है और अपने माँगे वर पर अटल रहता है। शेष उपनिषद् में इसी रहस्य का उद्घाटन किया गया है। उपनिषद् तो अब आरम्भ होता है, यह कथा जैसे विषय-प्रवेश के रूप में

पाठकों की जिज्ञासा जगाने के लिए थी।

प्राचीन काल के ऋषि-मुनि प्रायः प्रतीकात्मक एवं आलंकारिक भाषा में उपदेश देते थे। नचिकेता की कथा को ही लीजिए . हम सब 'नचिकेता' हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है 'न जाननेवाला', जिज्ञासु, मुमुक्षु। हम सब जिज्ञासु हैं, ब्रह्म को जानने की इच्छा रखते हैं, उसको जानते नहीं। विद्वान् लोग नचिकेता के और भी अर्थ बताते हैं। नचिकेता 'यम', 'मृत्यु' के पास ज्ञान प्राप्त करने जाता है। आचार्य का एक नाम 'मृत्यु' भी है क्योंकि उसके पास जाकर हमें अपने अहं को, अपने-आपको मारना पड़ता है और सर्वरूपेण उसकी शरण में जाना होता है। **ऋग्वेद** के **ब्रह्मचर्य सूक्त** में कहा गया है—'**आचार्यो मृत्युः**'। जब शिष्य अपने-आपको, अपने अहं को, मार देता है, तब गुरु उसे पुनः जन्म देता है और इसके लिए वैदिक साहित्य के अनुसार, वह शिष्य को तीन दिन और तीन रात 'गर्भ' में धारण करता है—**तिस्रो रात्रिः गर्भे बिभर्ति**। इसीलिए कथा में यह कहा गया है कि नचिकेता तीन दिन-रात बिना कुछ खाए-पिए 'यमराज'—आचार्य—के यहाँ रहा और अपने अहं को मारकर नए जन्म की तैयारी की।

यम ने उसे '**त्रि-नाचिकेत-अग्नि**' का वरदान दिया—यह भी सांकेतिक है। जब दो वस्तुओं को रगड़ा जाता है तब अग्नि उत्पन्न होती है। यहाँ उनके मिलने को संधि कहा गया है और हम सब जब तीन 'संधियों' की 'अग्नि' से गुज़रकर निकलते हैं, तभी **नाचिकेत-अग्नि** सिद्ध होती है और हम शोकरहित होते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥

(I-1.18)

ये तीन सन्धियाँ है ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम के बीच, गृहस्थ और वानप्रस्थ के बीच तथा वानप्रस्थ और संन्यास के बीच। इन तीनों आश्रमों में हमें शास्त्रोक्त यम-नियम का पालन करते हुए संन्यास की ओर बढ़ना है। यदि हम सारे वैदिक संस्कारों को निष्ठापूर्वक निभाते हैं, तभी हम ब्रह्मज्ञान के योग्य बन सकते हैं। आजकल हो यह रहा है कि ब्रह्मचर्य को ही विरला निभाता है। न तो वैसे आचार्य है और न शिष्य। आए दिन हड़ताल—'हमारी माँगें पूरी करो'—और कभी-कभी तो यह भी माँग होती है कि परीक्षा में नकल करने की छूट होनी चाहिए। चरित्र का यह हाल है कि किन्हीं-किन्हीं देशों में प्रणय-पद्धति को बकवास, रूढ़िवादी ही माना जाता है। दो-चार युवक-युवतियाँ साथ-साथ रहते हैं और जब जी चाहे अलग

हो जाते हैं और दूसरा 'साथी' पकड़ लेते हैं। कहीं-कहीं तो प्रणय-पूर्व-संभोग-अनुभव आवश्यक नहीं तो वांछनीय अवश्य माना जाता है। और यह सब स्वच्छन्दता की दुहाई देते हुए 'आनन्द की खोज' में किया जा रहा है। ऐसे दूषित वातावरण में नचिकेता जैसे श्रद्धालु जिज्ञासु की कथा बताना परमावश्यक है, क्योंकि भारतीय युवक भी इस प्रकार की स्वतंत्रता का उपभोग करने मे अब किसी से पीछे नहीं रहना चाहते। जो पतन हो रहा है उससे हम और आप सब परिचित ही नहीं, चिन्तित भी हैं। दूसरे देशों के मनीषी भी अपने युवकों की चरित्रहीनता से स्तब्ध हैं और भारतीय योग-ध्यान क्रियाओं को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसीलिए हमारा उद्देश्य है कि **उपनिषद्** के सन्देश का प्रचार एवं प्रसार किया जाए।

गृहस्थाश्रम की स्थिति भी दयनीय है। एक पति-पत्नी का आदर्श ढहता जा रहा है। कुछ गिने-चुने प्रतिष्ठित देशों को छोड़ सारे विश्व में भ्रष्टाचार एवं व्यभिचार का बोलबाला है। इस आश्रम में धर्म के दस लक्षणों (**धृतिक्षमा दमोस्तेयम्** आदि) का पालन करते हुए धनोपार्जन से परिवार का लालन-पालन करना है, अतिथि-सत्कार—जिसका उदाहरण नचिकेता का यम द्वारा सत्कार में आप देख चुके हैं—समाज-सेवा आदि में समय देना है और **स्वामी दयानन्द सरस्वती** द्वारा रचित **सत्यार्थप्रकाश** में दिए गए सोलह वैदिक संस्कारों को कार्यान्वित करना है। फिर इस आश्रम से निवृत्त हो दूसरी 'सन्धि' द्वारा वानप्रस्थ में प्रवेश करना है। यह नचिकेत की दूसरी अग्नि है। 'अग्नि' का अर्थ है तप, तप का आशय विभिन्न प्रकार से अपने शरीर को कष्ट देना नहीं है, अपितु स्वधर्म-पालन, इन्द्रिय-निग्रह, संयम एवं सेवा-मय जीवन से है। यह दूसरी सन्धि द्वारा गुज़रने का महत्त्व है। इसकी जानकारी होने से, सम्भव है कि कुछ व्यक्ति इसका थोड़ा-बहुत पालन करने का प्रयास करें और आनन्द की खोज में सफल हो सकें। इन संदेशों से अनभिज्ञ होने से स्वार्थ एवं स्वकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है और लोग शुद्ध वायु का गला घोंट रहे हैं, जल में विष मिला रहे हैं, वन-सम्पदा को नष्ट कर रहे हैं, एक ही ध्येय सामने है—जैसे भी हो धनराशि में वृद्धि होनी चाहिए।

तीसरी सन्धि तक जाने का तो चलन ही समाप्त होता जा रहा है। जब गृहस्थ से ही पीछा नहीं छूटता और वानप्रस्थ की ओर जाने की इच्छा भी बलवती नहीं होती तो संन्यास भी इने-गिने महानुभाव अपनाते हैं। आज का समय देखते हुए एक बात स्पष्ट कर दें तो अच्छा ही रहेगा। 'वानप्रस्थ' का यह अर्थ नहीं है कि आप अवश्य ही घर-द्वार छोड़ किसी आश्रम में चले जाएँ। एक वानप्रस्थ-आश्रम हरिद्वार ज़िले में ज्वालापुर में है, अन्य भी होंगे। मुख्य बात है मन की दिशा मोड़ने की। गृहस्थाश्रम पार कर चुकने पर आपके बाल-बच्चे प्रौढ़ हो चुके

होंगे। आप क्रमशः पारिवारिक उत्तरदायित्व उनको सौंपते जाएँ और दिन-प्रतिदिन के संचालन में हस्तक्षेप न करें। ऐसा दृष्टिकोण अपनाने से आप भी सुखी रहेंगे और आपका परिवार भी। आपने अपना जीवन जी लिया, उनको अपनी जीवन-शैली अपनाने की छूट दीजिए। यदि आपने शिक्षा-दीक्षा द्वारा उनमें अच्छे संस्कार दृढ़ कर दिए हैं तो वे ठीक मार्ग पर ही चलेंगे। यदि कभी आप कोई अनुचित आचरण देखें तो प्यार से टोक भी सकते हैं, पर अंतिम निर्णय उन्हीं पर छोड़ देना अभीष्ट है। संन्यास में अपरिग्रह तथा उदासीनता को और भी दृढ़ करना होता है। ममता-मोह से विरक्त हो जाइए, विकारों को पास न फटकने दें, अधिक से अधिक समय ज्ञानोपार्जन में लगाएँ, वेद-उपनिषदों का अध्ययन करें, ध्यान की अवधि बढ़ा दें, कर्म एकदम निष्काम हों, भगवद्भजन करें, और यदि इच्छा बलवती हो तो संन्यास लेकर किसी आश्रम में चले जाएँ। भारत में लगभग छह सौ से अधिक आश्रम हैं। यह है तीसरी सन्धि—वानप्रस्थ से संन्यास—और **नाचिकेत अन्तिम अग्नि**। यदि श्रद्धापूर्वक लगन से इनका पालन किया जाए तो स्वर्ग की प्राप्ति निश्चित है। और स्वर्ग भी क्या है—आत्मानुभूति, ब्रह्मज्ञान। जब मन शान्त हो जाए, अन्तःकरण शुद्ध हो जाए तो आप अपनी **आनन्द की खोज** समाप्त समझिए, आप आनन्दविभोर हो जाएँगे। जैसे **यमराज** कहते हैं कि जो इन नचिकेत-अग्नियों को जानकर उनका पालन करता है वह मृत्यु-पाश को काटकर, शोक-रहित हो, स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है (I-1.18)।

इस तरह **कठोपनिषद्** के पहले अध्याय की पहली वल्ली समाप्त होती है। इसे 'वल्ली' या बेल इसलिए कहा गया है क्योंकि बेल की तरह प्रत्येक उपनिषद् किसी न किसी वेद के वृक्ष अथवा 'शाखा' को आधार मानकर आगे बढ़ता है। **मुण्डक** तथा **कठ** दोनों में काफी समानता है, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों को आगे-पीछे अध्ययन करने से अधिक लाभ होता है। शेष उपनिषद् नचिकेता के तीसरे वरदान के उत्तर में जीवन-मृत्यु के रहस्य का विवेचन करते हुए ब्रह्मज्ञान की व्याख्या करता है।

2. उपनिषदों की 'जुगाली' करो

स्विस मनोवैज्ञानिक **कार्ल गुस्तव युंग** (1875-1961) ने अचेतन मन की गहराई की थाह लेते हुए पता लगाया कि व्यक्ति अचेतन मन के अतिरिक्त, एक

वंश का, समाज का, सारी मानव-जाति का भी 'अचेतन मन' होता है। किसी व्यक्ति के मन की सारी गुत्थियाँ केवल उसके जीवन के परिपेक्ष्य मे नहीं सुलझतीं। उनका बीज उसी की पूर्व-जीवनियों, अथवा वंश तथा समाज की घटनाओं के विश्लेषण में ढूँढना पड़ता है। या फिर वह सारी-मानव जाति की सामूहिक दुर्बलताओं का परिणाम हो सकता है। विभिन्न देशों—विशेषकर प्राचीन सभ्यताओं वाले देशों—की पौराणिक कथाओं का अध्ययन कर उन्होंने यह भी पाया कि कुछ ऐसे आदि-प्रतीक हैं जो उन तमाम सभ्यताओं में पाए जाते हैं। उनमें से कुछ हैं चपल-चञ्चल कुशाग्रबुद्धि बालक, विद्वान् वयोवृद्ध, देवदूत, शैतान आदि। **कठोपनिषद्** में पहले दो 'आदिम प्रतीक', जैसे भाग ले रहे हैं, और उनका सम्वाद सम्बन्धित है जीवन-मृत्यु के रहस्य से, स्वर्ग की प्राप्ति से, ब्रह्मज्ञान से। भला इन विषयों में किसे दिलचस्पी नहीं होगी? सम्भवतः यही कारण है कि इसे पढ़कर सभी की हृत्तंत्री झंकृत हो उठती है और वे अनायास इस ओर खिंच जाते हैं।

जब नचिकेता ने यमराज से जीवन-मृत्यु का रहस्य बताने का वर माँगा तो यम ने उसके सामने सारे सांसारिक आकर्षणों का विकल्प रख दिया—दीर्घायु, विस्तृत भूभाग का राज्य, चिरयौवन, सुरा-सुन्दरी, पुत्र-पौत्र आदि। पर हठीले बालक ने सब-कुछ ठुकरा दिया और अपने वर पर अडा रहा। इस घटना से हमे यह सीख देने का प्रयत्न किया गया है कि यदि कोई ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए दृढ़-संकल्प है तो उसे संसार की अनश्वर इच्छाओं से ऊपर उठना अत्यन्त आवश्यक है। आत्मज्ञान पाने के लिए जो कुछ अनात्म है उसको छोड़ना ही पड़ेगा। आत्मा नित्य, मुक्त, सर्वत्र है। वह अणु से भी सूक्ष्म—'अणोरणीयान्'—और 'अत्तर्क्य' है। न वह इन्द्रियों द्वारा देखा जा सकता है, न तर्क से जाना जा सकता है। आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर भी नहीं है—**अयं आत्मा ब्रह्म**। वह अनन्त है, अतः बुद्धि की पकड़ में, उसकी कक्षा में, सीमा में कैसे बँध सकता है—**अक़्ल में जो घिर गया लाइन्तहा कैसे हुआ?** न वह पढ़ने से मिलता है, न सुनने से बोधगम्य होता है। **गीता** में **भगवान् कृष्ण** ने भी कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(II-29)

अर्थात् 'कोई-कोई आत्मा को आश्चर्य रूप में देखता है, कोई वैसा ही बोलता या सुनता है और सब-कुछ सुनने के बाद भी कोई उसको नहीं जानता।'

कठोपनिषद् (II-7) समाधान करता है कि वह तो किसी ब्रह्मविद् गुरु द्वारा ही समझा जा सकता है—

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।

साधक को 'प्रेय' को त्याग 'श्रेय' का वरण कर किसी गुरु से ज्ञान प्राप्त करना होगा। इस आदेश को विभिन्न उपनिषदों में बार-बार नए ढंग से बताया गया है। आजकल ऐसे गुरुजनों का मिलना कठिन है। जब मैंने **स्वामी शिवानन्द आश्रम** के **स्वामी प्रेमानन्द जी सरस्वती** को यह कठिनाई बताई तो उन्होंने कहा : ''एक बार आप सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर तो देखें, ऐसे गुरु को पाने की तीव्र इच्छा तो करें, वह गुरु स्वयं प्रकट हो जाएँगे।'' आगे उन्होंने सुझाव दिया : ''आप बुद्धिजीवी हैं, जुगाली कीजिए।'' मैंने स्पष्टीकरण माँगा तो बोले . ''आपने बहुत-कुछ पढ़ा है। प्रतिदिन प्रातः एक घण्टे एकान्त में बैठ, किसी एक विशिष्ट आध्यात्मिक विषय या मन्त्र को लेकर उस पर खूब चिन्तन-मनन कीजिए, उसको 'पीसते रहिए, पीसते रहिए'—जैसे जुगाली करते हैं—और फिर निगल जाइए। इस बीच धीरे-धीरे गहरी साँसें लेते रहें।'' बात बड़ी काँटे की है। संतों की अपनी शैली होती है उपदेश देने की। आज़माकर देखिए, बड़ा लाभ होगा। जब आप अच्छे गुरु के अधिकारी बन जाएँगे तो वह भी अवश्य आ जाएँगे, पर पहले आप उनका आदर-सत्कार करने के लिए तैयार तो हों। इस तैयारी में समय लग सकता है क्योंकि सारे जीवन संसार में लिप्त जो रहे हैं, और सारे सांसारिक बन्धन तोड़ना इतना आसान नहीं है।

जैसे **मुण्डक** में ओं पर ध्यान जमाने का सुझाव दिया गया है, वैसे ही इस उपनिषद् में भी 'अक्षर'—अविनाशी, अनश्वर—को जानने पर बल दिया गया है (I-2.16)। यह 'अक्षर' सगुण भी हो सकता है और निर्गुण भी। आगे का मन्त्र **'न जायते म्रियते''''** (II-1 18) **गीता** के दूसरे अध्याय के तीसवें श्लोक से, और इसका उन्नीसवाँ श्लोक **'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं''''** **गीता** के इसी संख्या के श्लोक से मिलते-जुलते हैं—यदि कोई मारनेवाला यह समझता है कि मैं मार रहा हूँ, या मरनेवाले को यह भ्रम है कि मैं मर रहा हूँ, वे दोनों नहीं जानते—न यह मारता है, न मरता है। अतः **कठोपनिषद्** के कई मन्त्र **मुण्डक** तथा **गीता** के कितने ही श्लोकों से मिलते-जुलते हैं।

इसमें जीवात्मा की विडम्बना को बड़ी सुन्दर उपमा द्वारा दर्शाया गया है—यह शरीर एक रथ के समान है जिसे ज्ञानेन्द्रियों के पाँच घोड़े विषयों की सड़क पर खींच रहे हैं। बुद्धि सारथी है और मन लगाम। यदि बुद्धि मन की लगाम से

इन्द्रियों के घोड़ों को नियंत्रित कर रथ को चलाएगी तो शरीर अवश्य ठीक मार्ग पर चलता हुआ परमधाम को पहुँच जाएगा, अन्यथा यह शरीररूपी रथ को, उद्दण्ड उच्छृंखल घोड़े, कुमार्ग पर ले-जाकर उसे अधोगति की ओर ले जाएँगे। यह बुद्धि का काम है कि वह मन को संयम में रखे। मन संयत रहेगा तो इन्द्रियाँ भी काबू में रहेंगी। इसीलिए **तैत्तिरीय उपनिषद् में** मनोमय कोश से उत्तम ज्ञानमय, और उससे ऊपर विज्ञानमय कोश बताया गया है। इन सब की सत्ता का आधार आत्मा है। उससे हटकर इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। चेतना, आत्मा, मन एवं इन्द्रियों का बुद्धि के साथ-साथ एक विलक्षण मेल है और इनके सहयोग से ही शरीररूपी रथ चलता है, अन्यथा कर्ता-भोक्ता दोनों भ्रामक हैं, मायामय हैं। जिसकी बुद्धि दुर्बल है, मन मन्द और अशुद्ध है, वह इन्द्रियों के घोड़ों पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ हो जाता है और रथ दुर्घटनाग्रस्त हो सकता है, अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता। **आनन्द की खोज** में, आत्मान्वेषक में, बुद्धि-विवेक, नियम-संयम, एक शब्द में पुरुषार्थ, अत्यन्त आवश्यक है। इन्द्रियों के विषय—रूप-रस-गन्ध आदि—इन्द्रियों से अधिक स्थूल हैं, मन से इन्द्रियाँ स्थूल हैं, बुद्धि के परिप्रेक्ष्य में मन स्थूल है और चेतना की सूक्ष्मता की अपेक्षा ये सब स्थूल हैं, जैसे **गीता** में कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ *(III-42)*

यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का क्रम है, और आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है जिस तक पहुँचने के लिए हमें अपनी बुद्धि को परिष्कृत कर, समस्त विकारों से शुद्ध कर, अपनी चेतना को सर्वव्यापी चेतना में लय करना होगा; या यह कहना अधिक सार्थक होगा कि हमें अपने मन और बुद्धि से ऊपर उठना होगा। जब तक बुद्धि विद्यमान है, तब तक द्वैत भी विद्यमान रहेगा, 'मैं' और 'वह' का अन्तर चलता रहेगा। 'बुद्धि' का ज्ञान तभी उपजेगा जब वह कर्ता-कार्य-क्रम को जोड़ती है। पर शुद्ध-ज्ञान में 'जोड़ने' का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सर्वत्र 'एक' ही सत्ता है, ज़रा ध्यान दें, तो कौन किसको जोड़ेगा? अतः अनन्त, अनश्वर, आनन्द, सत् को समझना बुद्धि के बस की बात नहीं है। महत्तत्त्व व्यक्तिगत सीमित बुद्धि से श्रेष्ठ है। उसके गुण हैं सर्वज्ञता, सर्वव्याप्ति जो अन्तर्निहित, प्रच्छन्न 'अव्यक्त' में समाए हुए हैं। 'अव्यक्त' एक अनुमान है, **सत्यं ज्ञानमनन्तम्** की छाया है जिससे 'पुरुष'(ब्रह्म) श्रेष्ठ है जिसको समझना, जानना हमारा ध्येय है, लक्ष्य है। वह मन द्वारा नहीं जाना जा सकता। मन तो, जैसा

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, उस बन्दर के समान है जिसने मदिरा पी रखी है और जिसे बिच्छू या मधुमक्खियों ने काट लिया है। उससे सूक्ष्म है बुद्धि। पर बुद्धि जब क्रियाशील होती है तो कम से कम दो वस्तुओं की तुलना करती है, उनका विश्लेषण करती है; वह 'एक' की कल्पना कर नहीं सकती। न तो यह उसका स्वभाव है और न उसमें इतनी क्षमता है। फिर क्या करे, किसकी सहायता लें? सम्भवतः उपनिषदों का सहारा सहायक हो सकता है। उनका बार-बार अध्ययन करें, चिन्तन-मनन करें, उनकी 'जुगाली' करें, उनको खूब चबाएँ, बुद्धि के दाँतों से पीसें और निगल जाएँ। समय आने पर ब्रह्म-विज्ञ गुरु प्रकट हो जाएँगे मार्गदर्शन के लिए।

3. सावधान, छुरी की धार पर चलना है

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (III-1.14)—'उठो, जागो और जिन ब्रह्मविद् महात्माओं को परमात्मा का वरदान मिल चुका है उनकी शरण में जाओ!' कितना प्रेरणाप्रद उद्घोष है। इस आह्वान को सुनकर कौन उत्साहित नहीं हो जाएगा। किसकी भुजाएँ नहीं फड़कने लगेंगी! इन शब्दों में वह जादू है जिनको सुनकर निर्जीव में भी जैसे जीवन उमड़ पड़ेगा। इसको ऐसे भी कहा जा सकता है—'उठो, जागो और गुरुजनों से ज्ञान प्राप्त करो', या जैसा **स्वामी विवेकानन्द** कहते थे—'उठो, जागो और जब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर लो चैन से मत बैठो।' ऐसे वाक्य प्रत्येक पाठशाला में मोटे अक्षरों में लिखकर किसी ऐसे स्थान पर प्रदर्शित करने चाहिएँ जहाँ वे सबका ध्यान आकृष्ट कर सकें और विशेषकर विद्यार्थियों का मनोबल बढ़ा सकें। इसी मन्त्र में आगे कहते हैं—**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्या दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति**—यह मार्ग तेज तलवार की धार पर चलने के समान है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं। ऐसे हतोत्साही शब्द क्यों कहे गए? पहली पंक्ति में तो उत्साह को आकाश पर ले गए और दूसरे में जैसे धरती पर लाकर पटक दिया—भला तेज छुरे की धार पर कौन चलना चाहेगा?

वास्तविकता यही है और उपनिषत्कार साधक को धोखे में रखना नहीं चाहते। साहस है तो आत्मज्ञान का मार्ग चुनो और संत-समाज की संगत में बैठकर उसे सीखो, अन्यथा सांसारिक सुख में फँसे रहो। वे दो टूक बात कह रहे

हैं, उन्हें आपसे कुछ लेना-देना नहीं है, अपने अनुभव के आधार पर इस विकल्प को अपनाने में जो कठिनाइयाँ आएँगी उनकी आपको चेतावनी दे रहे हैं। यह मार्ग इतना दुष्कर क्यों कहा गया है, किस प्रकार की मुश्किलें आ सकती हैं—इनसे सतर्क हो जाने में हमारी ही भलाई है। कठिनाइयाँ बाह्य भी हैं और आन्तरिक भी। इस मार्ग पर पहला पग तो ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर से खींचना है, हटाना है। देखा जाए तो यह अस्वाभाविक है, क्योंकि आँख का रूप की ओर जाना, और उसी तरह नासिका का सुगंध की, जिह्वा का स्वाद की, कानों का मधुर वाणी अथवा संगीत की, तथा त्वचा का सुन्दर स्पर्श की सिहरन की ओर लालायित होना जैसे उनका धर्म है, स्वभाव है। यदि आप उनको अपने विषयों से वंचित करेंगे तो वे विद्रोह कर सकते हैं। आपको **फ्रायड** मनोवैज्ञानिक का मन्तव्य तो याद होगा। उसका कहना है कि यदि आप शालीनतावश इन्द्रियों को अपना काम करने से रोकते हैं तो वे अतृप्त प्रवृत्तियाँ अर्धचेतन तथा अचेतन मन में चली जाती हैं जिसमें तरह-तरह की गाँठें पड़ जाती हैं और वे विभिन्न रोगों के रूप में प्रकट होती हैं। ये रोग शारीरिक होते हैं पर साधारण औषधों से ठीक नहीं हो पाते, क्योंकि उनकी जड़ें, उनका कारण तो अर्धचेतन तथा अचेतन मन में है जिन्हें मनोवैज्ञानिकों को विश्लेषण द्वारा उभारकर ऊपर लाना होता है। जब रोगी को अपने रोग का मूल कारण पता चल जाता है, तब उसकी गाँठें खुल जाती हैं और वह स्वस्थ हो जाता है। इसका निष्कर्ष यह नहीं निकलता कि मन को—इन्द्रियों को—मनमानी करने की छूट दे देना हितकर है, पर इस विश्लेषण से यह सबक अवश्य सीख सकते हैं कि इन्द्रियों का—और उसके साथ मन का—कठोरता से दमन नहीं करना चाहिए। 'प्रेय' से 'श्रेय' की ओर मन को ले-जाने में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। यदि आप फव्वारे के मुँह को हाथ से दबाकर रोक देंगे, तब हथेली हटाते ही उसका पानी कुछ समय और भी ऊँचा जाएगा। प्रवृत्ति का दमन नहीं करना है, समझदारी से उसका परिष्कार करना है।

जब आप इन्द्रियों—और उनके साथ मन के—उदात्तीकरण में सफल होने लगेंगे, तब उनकी शक्ति का सदुपयोग दूसरी समस्या है। हम नदी पर बाँध बनाते हैं और उसके बहाव को रोक एक सागर के रूप में उसका जल एकत्र कर लेते हैं। अब यदि हम प्रपात के द्वारा विद्युत् उत्पन्न नहीं करते, या नहरें काटकर उस जल से सिंचाई का काम नहीं लेते, तो शीघ्र ही वह बाँध पानी को धारण नहीं कर पाएगा और टूटकर चारों ओर विनाश का कारण बन जाएगा। आपने इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोककर उनकी अपार शक्ति संचय कर ली, अब उसका सार्थक उपयोग होना चाहिए, अन्यथा आपके व्यक्तित्व को बड़ी हानि

पहुँचने की सम्भावना से आप मुक्त नहीं हो सकते। आप उस सृजनात्मक शक्ति को अपने मन में पैवस्त करने का प्रयत्न करें जिसके द्वारा आपके विकार दूर हो सकें और मन तथा चित्त क्रमशः शुद्ध होता चला जाए। यह कोई सरल कार्य नही है। ममता-मोह, लोभ-क्रोध, मद-मत्सर, ईर्ष्या-द्वेष कोई ढिंढोरा पीटकर थोड़े ही आते हैं। न जाने कब, कैसे चुपके-से दबे पाँव घुस आते हैं और फिर आपके मन में घर बना लेते हैं, आपको कुछ पता भी नहीं चलता। मन का मामला बड़ा गंभीर और अदृश्य है। यदि किसी के पेट मे कोई गोला है, अर्बुद है, या गुर्दे में पथरी है तो शल्यचिकित्सक चीर-फाड़कर उसे निकाल देता है; पर यदि आप किसी से जलते हैं, ईर्ष्या करते हैं, तो उसे आपके मन से निकाल फेंकना किसी शल्योपचार द्वारा सम्भव नहीं है। विकारो को दूर करना, मन को शुद्ध करना बड़ा कठिन कार्य है। पहली कठिनाई तो यह है कि शरीर की शुद्धि का तो हम बहुत ध्यान रखते हैं, साबुन लगाते हैं, इत्र छिड़कते हैं, साफ़-सुथरे परिधान धारण करते हैं, पर मन की शुद्धि की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। इन्द्रिय-निग्रह द्वारा जो आपने ऊर्जा एकत्र की है, उसे मन का मैल साफ करने में लगाइए।

कठोपनिषद् उसका एक तरीका बताता है। पहले मन को एकाग्र करें और उसे 'ज्ञानात्मा' के साथ जोड़ दें, ज्ञानात्मा को 'महान्-आत्मा' के साथ जोड़ें और फिर महान्-आत्मा को 'शान्तात्मा' के साथ मिलाने का अभ्यास करें। पहले आपका मन और इन्द्रियाँ अज्ञान, अविद्या के साथ जुड़ी हुई थीं, उसी तरह वे ज्ञान (विद्या) के साथ भी जुड़ सकती हैं। आपको उन्हें 'प्रेय' से, जो अच्छा लगता है, उससे हटाकर 'श्रेय' जो आपके लिए श्रेयस्कर है, और जिसका अभ्यास कर आपने काफी शक्ति का संचय कर लिया है, उसके साथ जोड़ने का प्रयत्न करें। इतना मार्ग पूरा करने के बाद क्रमशः सब-कुछ सरल होता जाएगा—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(III-1.13)

मनुष्य तभी उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता है जब वह अपने को ज्ञान के साथ जोड़ता है, अज्ञान के साथ नहीं। इसी का अर्थ है 'ज्ञानात्मा' के साथ जुड़ना। तब वह महान् होने लगता है, उसकी चेतना की परिधि फैलती जाती है, 'मैं', 'तुम' और 'वह' का अन्तर घटने लगता है, यही है ज्ञानात्मा का 'महानात्मा' के साथ जुड़ना और तभी वह शान्ति, परम शान्ति का अनुभव कर पाता है।

जिसका आदि न हो उसका अन्त हो सकता है; जिसका कोई अन्त न हो

उसका भी आदि हो सकता है। पर परम शान्त, परमानन्द ब्रह्म का न कोई आदि है न अन्त। जिसका आदि-अन्त नहीं, उसका कोई कारण-कार्य भी सम्भव नहीं। ब्रह्म तो कूटस्थ नित्य है, जैसा गीता में कहा है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। *(II-24)*

हम सब अपूर्ण हैं, हमारी इच्छाएँ अपूर्ण हैं, शक्तियाँ अपूर्ण हैं, आनन्द अपूर्ण है, ज्ञान अपूर्ण है। प्रतिदिन के प्रयोग द्वारा, विभिन्न कर्माकर्म द्वारा हम सब पूर्णता की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं। जब तक हम पूर्ण नहीं हो जाते, यह प्रयोग चलता रहेगा। पर हम पूर्ण तभी हो सकते हैं जब हम अपूर्णता से, अभाव से पीछा छुड़ा लें। जैसे ही हमारा अभाव, हमारी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ—और उनको प्राप्त करने के लिए कर्म की मृगतृष्णा—समाप्त हो जाएगी, हम अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाएँगे, क्योंकि पूर्णता तो पूर्ण का चिन्तन करने से ही प्राप्त होगी, अपूर्ण की परिधि में बँधे रहने से नहीं, अपूर्ण का चिन्तन करने से नहीं।

4. यही वह ब्रह्म है

उपनिषदों का मुख्य विषय है परम सत्ता ब्रह्म का विवेचन। साथ ही इनमें सृष्टि की उत्पत्ति, जीवात्मा और परमात्मा का विश्लेषण, संसार की रूपरेखा आदि से सम्बन्धित विषयो की भी विशद चर्चा की गई है। सृष्टि सत् से हुई या असत् से, सृष्टि से पूर्व कोई सत्ता थी या नहीं, थी तो वह कौन-सी सत्ता थी और उसका विस्तार कैसे हुआ? यदि वह सत्ता **सत्यं ज्ञानमनन्तम्** है और उसको जानने से ही हम सब-कुछ जान सकते हैं, हमारी सारी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं, हमारी आनन्द की खोज समाप्त हो जाती है और हम परमानन्द के भागी बन जाते हैं, तो उस सत्ता को कैसे जाना जा सकता है इस पर भी प्रत्येक उपनिषद् ने अन्य विषयो के साथ अपने-अपने ढंग से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। कोई कहता है पग-पग चलो; एक सीढ़ी चढ़कर फिर दूसरी पर चलो; कोई अन्य कहता है कि जब तक आप संसार से जुड़े रहोगे, आप पर अविद्या आच्छादित रहेगी, आप किसी भी विषय का सच्चा मूल्यांकन करने मे असफल रहोगे, इसलिए यदि आप परा विद्या का ब्रह्मज्ञान का स्वाद लेना चाहते हैं तो सब-कुछ

छोड़कर सन्यास लें और पूर्ण वैराग्य का जीवन अपनाकर निरन्तर ब्रह्म की जानकारी में लग जाएँ। यह तो सभी उपनिषदों का मत है कि पढ़ने-लिखने से, अनेक ग्रंथों को चाट जाने से अथवा तर्क-वितर्क से ब्रह्म को जानने में कोई सहायता मिलनेवाली नहीं है। जब **भगवान् सनत्कुमार** को महर्षि नारद ने अपनी शिक्षा का, अध्ययन का विवरण दिया तो वे प्रभावित नहीं हुए और उन्होंने कहा कि "हे नारद, तुझे 'शब्द-ज्ञान' तो अपार है, पर केवल उसीसे 'आत्म-ज्ञान' नहीं होता, इसी कारण तू सब विद्याओं को जानने के बाद भी अशान्त है। ब्रह्मज्ञान तो किसी ब्रह्मवेत्ता के पास बैठकर, जैसे गुरु ने 'उस' को जाना है, उसका पता लगाने से ही होता है।" अतः संत-समाज को अपनाओ और गुरु के श्रीमुख से उस ज्ञान को प्राप्त करो। क्योंकि भारत में कितने ही ब्रह्मवेत्ता हुए हैं, और भगवान् की कृपा से आज भी हैं, और उन्होंने अलग-अलग मार्ग द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया है, इसलिए प्रत्येक ने अपने-अपने निजी अनुभव की व्याख्या की है। किन्हीं-किन्हीं के अनुभव मिलते-जुलते हो सकते हैं इसलिए आप पुनरावृत्ति भी पाएँगे, फिर भी उनका जानना लाभदायक है, क्योंकि क्या पता अपने-अपने संस्कारों के आधार पर किसे कौन-सी युक्ति भा जाए और वह उसे धारण कर परमानन्द का भागी बन जाए!

कठोपनिषद् की चौथी वल्ली में ब्रह्म का विवेचन किया गया है। सृष्टिकर्ता ने हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, वे उन्नीस इन्द्रियाँ—**एकोनविंशति मुखः**—बाहर की ओर जाती हैं। प्रश्न उठ सकता है कि स्वयंभू तो सब कर सकता है, फिर उसने हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी क्यों नहीं बना दीं? सारा झंझट ही समाप्त हो जाता। न हम विषयों की ओर भागते, न कर्म-बन्धन के शिकार होते और न संसार में कुछ दुःख होता। हम सदैव अन्तर्मुखी हो ब्रह्म में लीन रह सकते थे। पर यदि ऐसा होता तो सृष्टि का विकास ही नहीं होता, संसार चलता ही नहीं। हम सब ब्रह्मलीन परमानन्द में डूबे रहते। सृष्टि का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता। आज स्थिति यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर जाती हैं। जब उन्हें मनचाहा मिल जाता है तो सुख अनुभव होता है, नहीं मिलता या मिलकर छूट जाता है तो दुःख होता है। हम राग-रंजित या द्वेष-दूषित रहते हैं और जैसा कर्म करते हैं वैसा फल भोगते हैं। अच्छा या बुरा कर्म करना हमारे हाथ में है, फल हमारे बस में नहीं है—**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**। (गीता I-47) अच्छा कर्म करने के लिए पुरुषार्थ की, कुछ तपस्या और जद्दोजहद की ज़रूरत है। एक कवि की पंक्ति याद आती है—

इन आबलों से पाँव के घबरा गया था मैं।
दिल खुश हुआ है रास्ता पुरख़ार देखकर॥

अर्थात् मेरे पैरों मे छाले पड़ गए थे, उनको देखकर मैं कुछ घबरा गया था; पर जब मैंने देखा कि रास्ते में काँटे (ख़ार) बिछे हुए हैं तो मै खुश हो गया हूँ। क्या जोश है, कैसी जौलानी है, कितना महान् पुरुषार्थ है! अरे, मैं पैर के आबलों से (छालों से) डर गया था, लेकिन अब तो मार्ग पुर-ख़ार—काँटों से भरा हुआ है, अब होगी मेरे साहस की परीक्षा! मैं काँटों से, रुकावटों से, घबरा नहीं रहा हूँ, खुश हो रहा हूँ क्योंकि यह मेरे सामर्थ्य की और भी बड़ी चुनौती है।

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। उनको अन्तर्मुखी करने के पूर्व हमें सबसे पहले यह भलीभाँति समझ लेना है कि इनकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। मन और प्राण इनके नियामक अवश्य हैं, परन्तु इन सब का अस्तित्व आत्मा के कारण है। यह तथ्य हम सब जानते हैं, पर जीते बहुत कम हैं। यह समझने में तो हमें विशेष कठिनाई नहीं होती कि मनोयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय ठीक-ठीक काम नहीं कर पाती—आँख देखती नहीं, कान सुनते नहीं इत्यादि। जब **स्वामी विवेकानन्द** 1893 में अन्तर्राष्ट्रीय धार्मिक संसद में भाग लेने शिकागो गए, उन्होंने किसी उच्च पदाधिकारी का आतिथ्य स्वीकार कर लिया। वह महिला स्वामी जी से अत्यन्त प्रभावित थीं और उन्होंने किसी विशिष्ट व्यक्ति को उनसे भेंट करने आमंत्रित किया। स्वामी जी मेज पर पड़ी एक पुस्तक पढ़ने लगे। अतिथि आ गए। महिला ने कई बार स्वामी जी का ध्यान आकृष्ट किया, पर वे पुस्तक में डूबे हुए थे। जब उन्होंने पुस्तक पुनः मेज पर रख दी तो महिला ने उलाहना दिया कि "मैंने तो कई बार आगन्तुक के आ जाने की सूचना दी, पर आपने अनसुनी कर दी।" स्वामी जी ने भरपूर क्षमायाचना की और कहा कि उन्होंने बिल्कुल नहीं सुना क्योंकि उनका मन पुस्तक पढने में लगा था। महिला ने साधारण ढंग से कहा : "तो बताइए पुस्तक का क्या मुख्य संदेश है?" तब स्वामी जी ने उस पुस्तक की इतनी सटीक व्याख्या की कि जिसे वह महिला कई बार पढ़ने पर भी हृदयंगम नहीं कर सकी थी। जब मन कही और होता है तो सुनाई नहीं देता, दिखाई भी नहीं देता। हम सब यहाँ तक तो समझते हैं, पर उसके आगे यह भूल जाते हैं कि मन की भी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह भी आत्मा के तेज से ही प्रकाशित है। यह जो रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श मैथुन को चला रहा है, यदि आत्मा अपना हाथ खींच ले तो इन सबका सारा ज्ञान लोप हो जाएगा। वस्तुतः वही वास्तविक सत्ता है—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत्॥ *(II-4 3)*

एतद् वै तत्—निश्चय से यह प्रेरक ही वह ब्रह्म है।

माण्डूक्योपनिषद् का कथन यहाँ पुनः दूसरे प्रकार से कहा गया है कि जो तत्त्व जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से समान रूप से गुज़रता है, तीनों अवस्थाओ का जाननेवाला है—यह तत्त्व ही ब्रह्म है। जो मनुष्य इस रहस्य को समझ लेता है वह आत्मा की विभूति को जानकर शोकरहित हो जाता है, परमानन्द को प्राप्त कर लेता है—एतद् वै तत्। विषय-भोग की मधु-जैसी मिठास में कटुता निहित रहती है, पर जिसने ब्रह्मज्ञान की मिठास चख ली है वह उत्तरोत्तर और भी अधिक मीठी होती चली जाती है। या यों कहना चाहिए कि वह मधु के समान है, जहाँ से स्वाद लो मीठा ही होगा। वास्तव में ब्रह्मज्ञान की विभिन्न मात्राएँ नहीं होतीं। या तो वह होता है, या नहीं होता। जब एक बार हमारी निजी चेतना परम चेतना से मिल जाती है, वह स्थिति अनिर्वचनीय है। उसमें द्वैत की, किसी अन्य वस्तु-विषय-व्यक्ति की चेतना हो ही नहीं सकती। हमने अभी तक कभी उसकी अनुभूति नहीं की है, केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। जब नरेन ने **स्वामी रामकृष्ण परमहंस** से ईश्वर के दर्शन कराने का आग्रह किया तो उन्होंने नरेन दत्त को केवल छू दिया। उस दैवी स्पर्श के बाद लगभग एक पखवाड़े तक वह अबोध युवक संसार की समस्त वस्तुओं को एक अद्भुत रूप में देखता हुआ आनन्द-सागर में डुबकियाँ लगता रहा और आगे चलकर **स्वामी विवेकानन्द** बन सारे विश्व पर छा गया। उन्होंने उन पन्द्रह दिनों की स्थिति का जो वर्णन किया है, ब्रह्मज्ञान के बाद कुछ ऐसी ही दशा होती है—सब-कुछ एकरस केवल चेतना ही चेतना का, अस्तित्व का, 'मैं हूँ' का ज्ञान, और कुछ नहीं।

जैसे अरणियों में अग्नि होती है पर दीखती नहीं, जैसे गर्भिणी का गर्भ सुरक्षित होता है पर दीखता नहीं, उसी तरह आत्मा में परमात्मा बैठा है पर वह दिखाई नहीं देता। जैसे गर्भिणी सदैव अपने गर्भ का ध्यान रखती है, उसी प्रकार परमात्मा को भी आत्मा की चिन्ता रहती है। परमात्मा अंगुष्ठमात्र प्रत्येक मानव के हृदय में सदैव विद्यमान है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर दें—कई उपनिषदों में अंगूठे जितने ब्रह्म के हृदय की गुफा में रहने की बात कही गई है, इसको प्रतीकात्मक मानना चाहिए। शरीर के अन्य भाग क्या ब्रह्म से ओत-प्रोत नहीं हैं ? क्योंकि ब्रह्म पर ध्यान जमाते समय सारे शरीर का ध्यान करना कठिन हो सकता है, इसलिए अनुमानतः उसके रहने का एक विशिष्ट स्थान निश्चित कर दिया गया जिससे

ध्यान लगाने में आसानी हो। दूसरे, ब्रह्म केवल शरीर में ही नहीं है, सर्वत्र व्याप्त है। उसके अनगिनत शीर्षस्थान अथवा ज्ञानकेन्द्र हैं। उसके दिव्यचरण पृथ्वी की सीमा को पार कर दशों दिशाओं में फैले हुए हैं, पर इस विराट रूप से तो कोई भी घबरा जाएगा, इसलिए व्यावहारिक रूप से उस अंगुष्ठमात्र ब्रह्म को मानव-शरीर की हृदय-गुहा में बताया गया है। **ऋग्वेद** का यह मन्त्र देखिए—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठत् दशांगुलम्॥

(ऋक्-X-90)

श्री **सत्यकाम विद्यालंकार** द्वारा इसका काव्यमय रूपान्तर इस तरह है—

प्रभु का है अनन्त विस्तार, द्यावा-पृथ्वी के उस पार
सर्वव्यापक परमपुरुष के, शत सहस्र हैं शीर्ष नयन;
दशों दिशाओं के अनन्त में, विचरण करते दिव्य चरण।
प्रभु का है अनन्त विस्तार, द्यावा-पृथ्वी के उस पार।

('वेद पुष्पांजलि' से)

जो मानव इस ग्यारह द्वार वाले शरीर में ऐसे रहता है जैसे जल में हंस रहता है—निर्लिप्त, निःसंग—वह अपने अनुष्ठान से शोक मे नहीं पड़ता और जब शरीर छोड़ता है तब जीवन-मृत्यु के चक्कर से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। **एतद्वै तत्**—आत्मा का यही रूप है। वैदिक साहित्य में मानव-शरीर को नौ द्वार की नगरी से बार-बार उपमा दी गई है। वे नौ द्वार हैं—दो आँखें, दो कान, दो नथुने, एक मुख, गुदा और उपस्थ। **श्वेताश्वतर उपनिषद्** में भी यही कहा गया है (III-18)। **गीता** के पाँचवें अध्याय में भी **नवद्वारे पुरे देही** की चर्चा की गई है। **कठोपनिषद्** में तालु और नाभि को मिलाकर ग्यारह द्वार बताए गए हैं। **महर्षि महेश योगी** का कहना है कि "एक संन्यासी जीवन में जो कुछ होता है वह देखता मात्र है, कोई तनाव खड़ा नहीं करता। यह आत्मज्ञान अथवा योग के अभ्यास द्वारा सम्भव है।" **डॉ० राधाकृष्णन** के शब्दों में : "कोई भी मनुष्य केवल धन अथवा विद्वत्ता से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसे अपने-आपको किसी परमशक्ति के आदेश को कार्यान्वित करने का निमित्त-मात्र जानकर त्याग एवं वैराग्य-भावना को दृढ़ करना चाहिए।" जो अपने मन की शान्ति के लिए बाहरी सहारों पर—धन-दौलत यश-ख्याति आदि—आश्रित रहते हैं उनको कभी शान्ति नसीब नहीं होती। शान्ति, आनन्द, संतोष अन्दर है, बाहर नहीं, और वह आत्मज्ञान द्वारा सहज ही मिल

सकता है। नित्यों में वही एकमात्र नित्य है, चेतनों में वही एकमात्र चेतन है, अनेकों में वही एक है, हमारी कामनाएँ उसी के द्वारा फलित होती हैं। उसका वास आत्मा के भीतर है। उसे जो पुरुष देख पाते हैं, समझ पाते हैं, उन्हीं को चिरशान्ति, परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं। (V-13)

इस प्रकार **कठोपनिषद्** में बड़े सरल ढंग से आत्मा और परमात्मा का विवेचन किया गया है तथा और भी कितनी उपमाओं द्वारा उस सत्ता के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है। पर यह तो शब्दज्ञान है; इसकी सहायता से अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा हमें इसे अपने दैनिक जीवन में जीना है।

5. संसार-वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं

जीवन-मृत्यु का रहस्य समझाते हुए बालक नचिकेता से यमराज कहते हैं कि हे सौम्य! यह संसार अश्वत्थ वृक्ष के समान है जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और तना, टहनियाँ, पत्ते, कलियाँ, फूल, फल सब नीचे की ओर फैले हुए हैं। संसार की उपमा अनेक प्रकार से दी गई है, यम ने वृक्ष से क्यों दी, वह भी ऐसा वृक्ष जिसकी जड़ें ऊपर हैं? भला किसी वृक्ष की जड़ें पृथ्वी में न होकर आकाश मे होती हैं, या हो सकती हैं? वृक्षों में अश्वत्थ—पीपल—को ही क्यों चुना, किसी अन्य वृक्ष को क्यों नहीं? अश्वत्थ का अर्थ है अनित्य,—अ=नही, श्व=कल, स्थ=स्थायी—जो आज है, कल नहीं रहेगा। दूसरे, पीपल की जड़ें बहुत गहराई तक जाती हैं। यदि आप इसके पौधे को उखाड़ दें, तो भी यह बार-बार फूट आता है। इसीलिए पीपल के पेड को घर के पास नहीं लगाते। तीसरे, इस वृक्ष में प्रदूषण दूर करने की अद्‌भुत शक्ति है—नीम के पेड़ से कई सहस्र गुना अधिक। चौथे, इस वृक्ष की प्रत्येक वस्तु अत्यन्त गुणकारी है; यहाँ तक कि यदि इसकी कोंपल के दूध को मिश्री में डाल, लड्डू-सा बना, प्रातः एक सप्ताह खाएँ तो चक्कर आने और मस्तिष्क की दुर्बलता दूर करने में बहुत लाभ होता है। यह प्रामाणिक बात है। पाँचवें, अमृत-मंथन की कहानी में सागर से जो चौदह रत्न निकलने की बात कही गई है, उनमें अश्वत्थ भी एक रत्न था। जो भी हो, पीपल अनित्य भी है और इसमें जीवनदायिनी शक्ति भी अपूर्व है। इसकी जड़ें आकाश में क्यों बताई गई? क्योंकि यह अपना भोजन पृथ्वी से प्राप्त नहीं करता, ब्रह्म द्वारा पोषित होता है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय भी—ब्रह्म द्वारा

होती है। यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे—ब्रह्माण्ड की तरह, संसार की तरह, शरीर की 'जड़' भी नीचे पैरों में नहीं है, ऊपर सिर में है जहाँ ब्रह्मरंध्र स्थित है। हमारे समस्त विचारों का, कर्मों तथा भावनाओं का उद्गम मस्तिष्क है जिसके नीचे शरीर के अंग-प्रत्यंग वृक्ष की शाखाओं के समान फैले हुए हैं। वे सब तभी तक कार्यशील हैं जब तक आत्मारूपी ब्रह्म उनके साथ हैं, अन्यथा वे निर्जीव हैं। हमें जो यह भ्रम है कि मैंने यह किया, वह किया, सब मिथ्या है, भ्रान्ति है; करनेवाला तो कोई और ही है, हम तो केवल निमित्त-मात्र हैं। जिसने इस तथ्य को हृदय में धारण कर लिया उसका अहं दूर होने में देर नहीं लगेगी। अहं-भाव हटा और आप अपने सच्चे स्वरूप में आ गए, सारे संदेह-संशय दूर हो गए और आपने जान लिया—**एतत् वै तत्**—यही ब्रह्म है।

गीता के पंद्रहवें अध्याय में भी उल्टे वृक्ष की उपमा दी गई है, अन्य देशों के साहित्य में भी इसकी चर्चा है। यह भी **युंग** के बताए हुए मानव-जाति के आदि प्रतीकों में से एक है। **भगवान् कृष्ण** कहते हैं—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ *(XV-1)*

अश्वत्थ वृक्ष, जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे हैं, कभी नष्ट नहीं होता, इसकी शाखाएँ वैदिक ऋचाएँ हैं। जो यह जानता है वह वेदों को जानता है। इसकी शाखाएँ ऊपर-नीचे चारों ओर फैली हुई हैं और उनका गुणों द्वारा (सत्त्व, रज और तम) पोषण होता है। इन्द्रियों के विषय इसके अंकुर हैं जो मानवों में फूट रहे हैं और उनके संसार-बंधन का कारण हैं (XV-2)। अतः अधिकांश लोग इस वृक्ष की उत्पत्ति और विस्तार आदि से अनभिज्ञ हैं। इस वृक्ष की जड़ों को अनासक्ति के कुठार से काटकर वे मुक्त हो सकते हैं (XV-3)। देखा जाए तो जीवन की जड़ें, गुणों से पोषित स्मृतियों-संस्कारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। हमें यह समझना है कि प्रकृति के गुण अपना-अपना कार्य कर रहे हैं; हम कुछ नहीं कर रहे, केवल द्रष्टा हैं। **स्केन्डिनेविया** के देशों में भी कुछ ऐसे ही विचार प्रचलित हैं और स्कॉटलैण्ड के इतिहासकार **कारलायल** (1798-1881) ने उनका बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है—"संसार-रूपी वृक्ष की शाखाएँ, पत्तियाँ और कोंपलें भिन्न-भिन्न देशों में होनेवाली घटनाएँ एवं दुर्घटनाएँ हैं। उन्हीं शाखाओं, घटनाओं, के आधार पर देशों का इतिहास रचा जाता है। उसकी पत्तियों की जो सरसराहट है वे मानवीय भावनाएँ हैं, चहल-पहल हैं... " इत्यादि।

क्योंकि इस वृक्ष की जड़ें ब्रह्म पोषित करता है इसलिए इसे नित्य, सनातन,

अनश्वर कहा गया है। इसकी शाखाएँ आदि जगत मानी गई हैं जहाँ जीवन-मृत्यु, सुख-दु:ख का सिलसिला सदा चलता रहता है, इसलिए इस वृक्ष को अनित्य, नश्वर, आज है कल नहीं, बताया गया है। इसकी पत्तियाँ वेद-शास्त्र-उपनिषद् आदि ग्रन्थ हैं जिनके अध्ययन द्वारा हम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसकी कलियाँ हमारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ हैं जो हमें कर्म की ओर प्रेरित करती हैं, फिर फूल बनकर दिग्‌दिगन्त में सुगन्ध बखेरती हैं और हमें उन कर्मों के फल भोगने होते हैं। इस वृक्ष में काले, गोरे, भूरे, पीले तरह-तरह के लोग अपना घोंसला बनाकर निवास करते हैं; वे कभी खुशी से गाते-नाचते हैं, कभी दु:ख से विलाप करते हैं। कभी मैत्री-भाव से साथ-साथ रहते हैं और कभी लड़ते-लड़ते एक-दूसरे के प्राण तक ले लेते हैं। अत: यह वृक्ष-रूपी संसार विभिन्न बोलियों, हर्षोल्लास तथा चीख-पुकार से गूँजता रहता है। फिर भी, क्योंकि इसकी जड़ें ब्रह्म में स्थित हैं, यह ऋत् एवं सत् के आधार पर ही टिका हुआ है।

आप कहेंगे इस संसार में कोई शाश्वत सिद्धान्त—ऋत्—तो कहीं दिखाई देता नहीं, और सत्य की बात करना हास्यास्पद-सा लगता है। कहीं लोग बाढ़ से पीड़ित हैं तो कहीं सूखे से। कभी भूकम्प से सैकड़ों घर धराशायी हो जाते हैं और लोग अत्यन्त पीड़ित होते हैं, जान से हाथ धो बैठते हैं, और वायुयानों, रेलगाड़ी, बसों आदि की दुर्घटनाएँ तो आए दिन होती रहती हैं। यह कैसा प्रबन्ध है? चारों ओर घोर अराजकता छाई हुई है। कुछ तो प्राकृतिक विपदाएँ हैं और अन्य हमारी स्वयं उत्पन्न की हुई। प्राकृतिक घटनाओं का नियम है कि समान परिस्थितियों के समान परिणाम होंगे—यह अटल सिद्धान्त है। जिन प्राकृतिक हालात में एक भूकम्प आया है, जब कभी धरती की परतों की, भूमिगत द्रव्यों इत्यादि की, वैसी ही पुन: स्थिति होगी, फिर भूकम्प आएगा। चक्रवात, समुद्री तूफ़ान, झंझावात, अतिवृष्टि, सैलाब, ज्वार-भाटा, सूर्य और चन्द्र के ग्रहण आदि सबके अलग-अलग विशिष्ट कारण हैं और जब-जब वैसे ही अथवा मिलते-जुलते कारण, पुन: उपस्थित होंगे तो वह घटना घटित होगी। हाँ, मनुष्य द्वारा बनाई गई दुर्घटनाओं का कोई सीधा-सादा सिद्धान्त दिखाई नहीं देता। यदि है तो उसके मानसिक विकार, जिनमें सबसे बड़ा तो लोभ है, धन-लिप्सा है, ईर्ष्या है, अभद्र ऐश्वर्य की ललक है। प्राकृतिक कारणों को समझने और उनकी रोक-थाम के प्रयत्न तो चल रहे हैं, और उनमें कुछ-न-कुछ सफलता भी मिल रही है, पर लालचवश जल-वायु को दूषित करना तो हमारे हाथ में है, उसको तो हम रोक सकते हैं, पर अविरत लोभ का हम संवरण नहीं कर सकते और जिस शाख पर बैठे हैं उसी को काट रहे हैं।

इस संसार-रूपी वृक्ष को काटकर ब्रह्मानन्द प्राप्त करने के लिए, सबसे पहले हमें लोभ और ईर्ष्या को मिटाकर अन्तःशुद्धि करनी होगी। उसी के साथ अस्त्र-शस्त्रों के भण्डार खड़ा करने की होड़, सामूहिक विनाश के अणुबम तथा प्रक्षेपणास्त्रों में अपार धन-राशि तथा प्राकृतिक दुर्लभ सम्पदा का दुरुपयोग कम हो जाएगा। इन विकारों को दूर करने के लिए हमें अपनी वर्तमान मनोवृत्ति को नया मोड़ देना होगा। यह तभी सम्भव हो पाएगा जब इन सद्‌विचारों को पुष्ट करने के लिए एक स्वस्थ जीवन-दर्शन का सहारा होगा। उपनिषदों के गम्भीर अध्ययन द्वारा हमें वह पृष्ठभूमि सहज ही प्राप्त हो सकती है। कोई भी व्यक्ति बिना किसी शाश्वत-सिद्धान्त—ऋत्—को आधार बनाए, अपनी निजी प्रवृत्तियों के पीछे चलकर सफल जीवन नहीं जी सकता। प्रत्येक व्यष्टि एक अनन्त समष्टि का भाग है। यदि हम एक भाग को भलीभाँति समझना चाहते है तो सम्पूर्ण को, जिसका वह भाग है, समझना वांछनीय ही नहीं परमावश्यक है। इसीलिए सारे उपनिषद् पूर्ण को, ब्रह्म को जानने पर निरन्तर बल देते हैं। **मुण्डक** का तो यह मत है कि परा-विद्या को प्राथमिकता देनी चाहिए, तभी आप जीवन का ठीक मूल्यांकन कर पाएँगे। उसके लिए संन्यास लेना जरूरी है, तभी हंस-रूपी जीव, ब्रह्म में निवास कर सकता है। पहले वह 'नर-देह' में वास करता है, फिर क्रमिक-विकास करता हुआ 'वर-देह', 'ऋत्-देह' और व्योम-देह में वास करता है—**नृषद्वरसदृतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्** (कठ V-2)। जैसे हंस पानी में रहते हुए भी नहीं भीगता, उसी तरह संसार में असंग रहनेवाले को 'नरदेह' में वास करनेवाला कहा जा सकता है। जैसे-जैसे इसका विकास होता जाता है वह ब्रह्मचर्य और गृहस्थ, गृहस्थ और वानप्रस्थ, तथा वानप्रस्थ और संन्यास तीनों सन्धियों से गुज़रता हुआ 'त्रि नाचिकेत अग्नियों' को जान लेता है। शरीर में 'प्राण' तथा 'अपान'—संचय और विचय—की शक्तियाँ हैं। एक और शक्ति है जिसके ये दोनों आश्रित हैं, वही आत्मा है—**एतद्वै तत्** (V-4)।

6. योग और ज्ञान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति

यमाचार्य नचिकेता को 'त्रि नाचिकेत अग्नि' का वरदान दे उसे जीवात्मा और परमात्मा का रहस्य समझाते हुए कहते हैं कि परमात्मा जीवात्मा के अन्दर अंगुष्ठमात्र होकर बैठा है। फिर उसे यह भी शिक्षा देते हैं कि मरने के बाद आत्मा

कहाँ जाता है। यह अत्यन्त रहस्यमय विषय है और इसे गोपनीय रखने के विकल्प मे यम ने उसे अनेक प्रलोभन दिए, पर नचिकेता इसी रहस्य को जानना चाहता था और उसने सारे प्रलोभन ठुकरा दिए। यम रहस्योदघाटन करते हुए बताते हैं कि मरणोपरान्त प्रत्येक मानव अपने-अपने कर्मो के अनुसार, उपयुक्त योनि में जाकर शरीर धारण करता है, कोई 'स्थाणु' योनि में चला जाता है अथवा वृक्ष आदि भी बन सकता है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ *(V-7)*

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक बार अपने शुभ कर्मों द्वारा यदि मानव-देह मिल गई तो यह आवश्यक नहीं है कि क्रमविकास के अनुसार वह व्यक्ति पुनः नीचे की योनि में नहीं आएगा। यदि कुछ लोगों की ऐसी धारणा है तो वह भ्रान्तिमय है। यम तो कहते हैं कि पशु-पक्षी की योनि पाना तो दूर, वह वृक्ष भी हो सकता है। आपको वह कथा याद होगी जहाँ राजा इन्द्र जब विष्णु-रूप बालक से एक मीटर चौड़ी चींटियों की पंक्ति का रहस्य पूछते हैं तो बालक बताता है—"हे राजन्! इनमें से प्रत्येक चींटी अपने शुभ कर्मों द्वारा इन्द्र की पदवी प्राप्त कर चुकी थी। तत्पश्चात् दुष्कर्मों के कारण गिरते-गिरते यह फिर चींटी की योनि में आ गई, अर्थात् ये सारी चींटियाँ किसी न किसी समय तेरे जैसे इन्द्र-पद पर पहुँच चुकी हैं।" **स्वामी विवेकानन्द** मानवों को चार श्रेणियों मे रखते हैं। एक वे जो कुछ करते-धरते नहीं, आलसी हैं। हो सकता है उन्हें विरासत में बहुत-कुछ धन-धान्य प्राप्त हो गया और वे उसे भोगते रहते हैं, ऊपर से कहते हैं—"हमें कुछ करने की आवश्यकता क्या है? भगवान् ने बहुत-कुछ दिया हुआ है।" ऐसे व्यक्ति 'जड़' श्रेणी में आते हैं, ईट-पत्थर की तरह एक जगह पड़े हुए हैं। कुछ ऐसे हैं जो केवल एक ही दिशा में चलते रहते हैं, इधर-उधर नहीं देखते, पुरुषार्थ नहीं करते, जिस काम पर लगा दिया, जीवन-पर्यन्त उसी में लगे रहते हैं, उनका मन एक ही लीक पर चलता रहता है। ये लोग वृक्ष के समान हैं—स्थाणु हैं, एक ही दिशा में बढ़ते हैं। अन्य कुछ अपनी मूल प्रवृत्तियों के अनुसार काम करते हैं—भोजन की तलाश, खाना-पीना, प्रजनन करना और यथासमय शरीर छोड़ देना। ऐसे लोगों को स्वामी जी पशु-पक्षियो की उपाधि देते थे। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो चिन्तन-मनन करते हैं—हम कहाँ से आए हैं, किधर जा रहे हैं, जीवन का प्रयोजन क्या है, हमारा लक्ष्य क्या है? वे स्वाध्याय करते हैं, विद्वानों व सन्त-महात्माओं की संगति खोजते हैं और भरसक

परमानन्द की खोज में संलग्न रहते हैं। स्वामी जी के अनुसार, यही लोग 'मानव' कहलाने के योग्य हैं।

यही तथ्य **यमराज** अपने ढंग से समझाते हैं। वह कहते हैं कि इस शरीर को छोड़ने से पहले यदि तूने 'उस' को जान लिया तो इस सृष्टि के बाद, प्रलय हो जाने के बाद जब दूसरी सृष्टि का सर्जन होगा, तो भी तू मनुष्य-योनि हो प्राप्त करेगा और यदि निर्विकल्प समाधि मिल गई—तू उसके साथ लीन हो गया—तो शायद पुनः जन्म लेने की आवश्यकता ही न हो। **केनोपनिषद्** में कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त किए गए हैं—यदि तूने 'उसे' इस जन्म में जान लिया तब तो ठीक है, अन्यथा महानाश है। धीर लोग इस संसार की एक-एक वस्तु पर विचार करते हुए इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सब परिवर्तनशील है, पल-पल बदल रहा है, इसमें क्या आसक्त होना। जानना तो उसे है जो नित्य है, शाश्वत है, अनन्त है, ज्ञान का भण्डार है। वे लोग इस लोक में अमर हो जाते हैं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(II-5)

बृहदारण्यक उपनिषद् भी ऐसा ही कहता है—यदि हमने उसे इसी जन्म में जान लिया तो बहुत अच्छा है, अन्यथा महानाश है; मानव-जीवन का जब लक्ष्य ही प्राप्त नहीं हुआ तो जन्म लेना निरर्थक हो गया। जो 'उसे' जान जाते हैं वे अमर हो जाते हैं, जो नहीं जान पाते या जानने का प्रयत्न नहीं करते हैं, वे दुःख ही भोगते हैं—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥

(बृहद् IV-4.14)

हम एक ही बात दोहरा रहे हैं और आपको बार-बार वही तथ्य पढ़ने पर विवश कर रहे हैं। अच्छी बात को बार-बार कहने और पढ़ने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, भलाई ही भलाई है। क्या पता कब हृदय में उतर जाए!

जगत में, जीवन में जो गति दिखाई देती है वह प्राण के कारण है। प्राण स्वयं गति नहीं देता, वह भी किसी के द्वारा गतिमान है। ऋषि का कहना है कि इस प्राण के सिर पर भी कोई शक्ति मानो वज्र लेकर खड़ी है। उसी के भय से अग्नि तपती है, सूर्य चमकता है, वायु बहती है, प्राण स्पन्दन करता है और उसी

के भय से **मृत्युर्धावति**—मृत्यु भागा फिरता है। **तैत्तिरीय उपनिषद्** भी 'उस' के भय की बात करता है (II-8.1)। सम्भवतः भय का उल्लेख इसलिए किया गया है क्योंकि ब्रह्म ही इस सृष्टि का संचालक है, नियन्ता है, शासक है। यदि 'उस' का भय न हो—जैसे राजा का भय न हो—तो शासन मे ढील आ सकती है, सारी व्यवस्था बिगड़ सकती है, ऋत् की कोई अवहेलना कर सकता है। इस कथन को प्रतीकात्मक मानना चाहिए। उसकी अखण्ड सत्ता है, अकाट्य नियमों को उजागर करने की एक शैली है।

'उस' को जानने के लिए **यमराज** योग पर बल देते हैं। योग की साधना में **चित्तवृत्तिनिरोध** करना होता है—चित्त में, मन में कोई स्फूर्णा न हो, कोई वृत्ति न उठे, वह एकदम शान्त व स्थिर हो जाए तो सारी इच्छाओं का नाश हो जाए। जब कोई इच्छा उठेगी ही नहीं. विचार की कोई लहर नहीं आएगी, तब मन भी जैसे नहीं रहेगा। पर यह स्थिति सदैव तो नहीं रह सकती। कुछ समय के लिए कोई संवेदना उदय-विलय नहीं होगी। इन्द्रियों के पूर्व-अनुभवों का एक झोंका आते ही फिर से मन के शान्त जल में कोई लहर थिरकने लगेगी। **योगवसिष्ठ** में योग और ज्ञान में अन्तर समझाया गया है। आरम्भ में योग द्वारा मन कुछ समय के लिए अपने-आप में लय हो जाता है। जब वृत्तियाँ फिर जाग्रत हो जाती हैं, उनका निरोध नहीं होता, मन पुनः इधर-उधर जाने लगता है। गम्भीर अभ्यास द्वारा हो सकता है मन अडिग हो जाए। जहाँ ज्ञान में 'उस' को जान लिया जाता है, वहाँ द्वैत समाप्त हो जाता है, सब में वही 'वह' दिखाई देता है। एक बार चैतन्य-स्वरूप होने के बाद मन का भी कायाकल्प हो जाता है। आप सब भी देखते हैं पर एक रहस्यमयी अद्‌भुत दृष्टि से—वृत्तियाँ उदय-विलय होती हैं, संस्कारवश बचे हुए विचार आते-जाते हैं, पर आप उनसे असग, निर्लिप्त रहते हैं, केवल द्रष्टा-भाव से देखते हैं। इसी अभ्यास द्वारा आगे चलकर योग हो जाता है। योग में इच्छाशक्ति, दृढ़ सकल्प द्वारा हम सारी वृत्तियों को अपने चित्त से हटाने का प्रयास करते हैं, यम-नियम के पालन से विकारों का बहिष्कार करते जाते हैं, एक तरह से यह निषेधात्मक क्रिया है जिसमें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के साधन से हम अपने बिखरे हुए व्यक्तित्व को संघटित करते हैं।

ज्ञान में हम आत्मान्वेषण करते हैं, प्रत्येक वस्तु को एक आध्यात्मिक परिपेक्ष्य में देखने लगते हैं। हम ईश्वर-सृष्टि को देखते हैं; अपने स्वयं द्वारा रचित संसार को नहीं देखते। सब-कुछ चैतन्य-स्वरूप प्रतीत होने लगता है। हमारे बनाए हुए नाते-रिश्ते क्षीण होने लगते हैं। जब ज्ञान हो जाता है तो हम सब में अपने को, और अपने में सबका अनुभव करते हैं। वहाँ कोई 'दूसरी वस्तु' जैसी

चेतना ही नहीं रहती; केवल चेतना—अनन्त, शाश्वत, आनन्दमयी चेतना का भास होता है। ज्ञान का अर्थ है सदा उस चेतना में प्रतिष्ठित रहना। इस चेतना के भी दो आकार हो सकते हैं—एक तो अनुभूतिमूलक है, उसका अनुभव किया जा सकता है, दूसरा अनुभव से ऊपर है, उसमें 'अनुभव' भी लय हो जाता है, उसका कोई भान या ज्ञान नहीं होता, वह तो एक असीम, अबाध, प्रगाढ़ 'स्थिति' है। एक ब्रह्माभ्यास, ब्रह्मभावना है जिसमें आप ब्रह्म की चर्चा करते हैं, ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करते हैं, दूसरे में आप ब्रह्मवत् हो जाते हैं, ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। तब चर्चा किसकी और कैसे करेंगे? योग और ज्ञान दोनों का लक्ष्य ब्रह्मभावना नहीं, ब्रह्मलीनता है, उसके साथ एक हो जाना है।

जो कुछ नहीं जानता था पर सब-कुछ जानने के लिए कृत-संकल्प था, जो मुमुक्षु था, जिज्ञासु था और जीवन-मृत्यु के रहस्य को जानने के लिए सारे सांसारिक सुख ठुकराने के लिए कटिबद्ध था, उसने अपने अहं को मारकर अमरत्व प्राप्त कर लिया। आचार्य ने, गुरु ने, उसे योग की साधना का उपदेश दिया और उसने पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को मन के साथ स्थिर कर निश्चल बुद्धि के साथ मिला दिया। इसी अवस्था को 'परम-गति' कहते हैं—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ *(VI-10)*

अर्थात् जब पाँच ज्ञान-साधन-इन्द्रियाँ मन के साथ चंचलता-शून्य, स्थिर, हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टाहीन हो जाती है, उसे ही मनुष्य की श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। मनुष्य के हृदय में जो इच्छाएँ हैं, कामनाएँ हैं, जब वे छूट जाती हैं तब वह **मर्त्योऽमृतो भवति**—मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और **ब्रह्म समश्नुते**—ब्रह्म के आनन्द का रस लेता है (VI-14)। **यमराज** ने नचिकेता को जिस पराविद्या का, सम्पूर्ण योगविधि का उपदेश दिया, उसे सुनकर वह ब्रह्मयुक्त अमर हो गया। वह तो पहले ही विकारहीन, मलविहीन, सांसरिक प्रलोभनों से मुक्त मुमुक्षु था। यदि हम ऐहिक कामनाओं से मुख मोड़ लें और अपनी ऊर्जा को ब्रह्मोन्मुख बना लें तो हम भी निःसन्देह परमानन्द को प्राप्त कर सकते हैं।

1. यज्ञ का आन्तरिक अर्थ

ग्यारह मुख्य उपनिषदों में **माण्डूक्योपनिषद्** सबसे छोटा और **बृहदारण्यक** सबसे बड़ा है। इसके नाम से ही पता चलता है कि यह एक विशाल वन के समान है। कुछ विद्वानों का कहना है कि किसी भी उपनिषद् में कोई ऐसी नई बात नहीं कही गई है जो इस उपनिषद् में नहीं पाई जाती। पिछले दस उपनिषदों की शैली देखकर आपने यह अनुमान लगा लिया होगा कि इनका विषय अत्यन्त रहस्यमय है जो एक गुरु अपने परम प्रिय शिष्य को अपने पास बैठाकर गोपनीय ढंग से समझाता है और श्रद्धालु शिष्य गुरु के श्रीमुख से निकले एक-एक शब्द को अपने अन्तस्तल में धारण करता जाता है। ऐसा नहीं है कि एक प्राध्यापक अपनी कक्षा के विद्यार्थियों को भाषण दे रहा है, कोई सुनता है कोई नहीं, पर वह धुआँधार बोले जा रहा है, उसे निर्धारित पाठ्यक्रम जो पूरा करना है। यहाँ तो एक आचार्य अपने प्रचण्ड प्रकाश से शिष्य को प्रबुद्ध कर रहा है। यह सम्प्रेषण की अत्यन्त आत्मीय एवं गंभीर प्रक्रिया है जिसमें जैसे एक आत्मा दूसरी आत्मा में अपना ज्ञान उँड़ेल रही हो। वस्तुतः आत्मज्ञान का विषय पढ़ने-लिखने या कहने-सुनने का तो है नहीं, फिर भी सच्चा मुमुक्षु उसे जानने के लिए आतुर होता है और ब्रह्मविद् गुरु अपने ज्ञान को किसी उपयुक्त अधिकारी को सिखाने के लिए भी उतने ही इच्छुक होते हैं।

जिस रहस्य को उजागर करने में भाषा असमर्थ हो जाती है उसे मनोरंजक उपाख्यानों, रूपकों तथा उपमाओं द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है, प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। समस्या तब आ जाती है जब कुछ लोग प्रतीक को प्रत्यक्ष मानने लगते हैं। अधिकांश उपनिषद् आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व कहे गए थे। वह वातावरण कुछ और था, उस युग की मान्यताएँ भिन्न थीं, मूल्य अलग थे और हमें इस तथ्य का ध्यान रखना होगा। फिर भी उपनिषदों का सार, उनका मुख्य संदेश कालातीत है, सार्वभौमिक है, समस्त मानव-जाति के लिए है, और आज भी उतना ही सार्थक है जितना तब था। उपनिषत्कार

परिवर्तनशील जगत की बात ही नहीं करते, जो अजर है, अमर है, सनातन है उसकी व्याख्या करते हैं। वह जैसा पहले था, आज भी वैसा है, आगे भी ऐसा ही रहेगा। विज्ञान आज भी ऐसे तत्त्व की तलाश कर रहा है जो सृष्टि का मूल स्रोत है, सबको एकता की डोर से बाँधे हुए है, सारे कार्यों का कारण है, पर उसे वह अभी पहचान नहीं पाया है, शोध और खोज जारी है। भारत के मनीषियों ने उस सत्ता को जान लिया है, वे उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। वह 'ब्रह्म' अजन्मा है, अखण्ड है, शाश्वत है। उसे जान लेने से मनुष्य की सारी कामनाएँ, सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वह सब-कुछ जान लेता है, फिर और कुछ जानने को शेष नहीं रहता, वह सच्चिदानन्द का स्वाद ले लेता है। ऋषियों ने उसे अटूट ध्यान तथा अन्तःप्रज्ञा द्वारा अपने अन्तर् में पाया है। हम उसे कैसे जानें—सारे उपनिषदों का यही मुख्य विषय है। ध्यान तथा अन्तःप्रज्ञा को विज्ञान व्यक्तिगत अनुभव कहकर मान्यता नहीं देता और प्रयोगात्मक प्रमाण माँगता है। भारत के एक नहीं, कितने ही साधकों ने उसे ध्यान, निष्काम कर्म तथा नवधा भक्ति द्वारा जाना है। उपनिषद् केवल ज्ञान-मार्ग की व्याख्या करते हैं, हमें भी उनके बताए हुए आदेशों का पालन करते हुए, स्वयं अपने अनुभव को परखना चाहिए।

बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेद के **शतपथ ब्राह्मण** का भाग है। इसमें छः अध्याय हैं, प्रत्येक में कई खण्ड हैं जिन्हें **'ब्राह्मण'** कहा गया है, जैसे **तैत्तिरीय उपनिषद्** में अध्याय को वल्ली और उसके खण्ड को अनुवाक कहा गया है। वेदों के ब्राह्मण-भाग में विशेषकर विभिन्न यज्ञों, अनुष्ठानों, कर्मकाण्ड की चर्चा है। यह उपनिषद् ऐसे ही उस समय के प्रसिद्ध यज्ञ की कथा से आरम्भ होता है जिसे अश्वमेध यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञ का सहारा लेते हुए पहले और दूसरे अध्यायों में उपनिषद् अपने मुख्य विषय को प्रतिपादित करता है, उसकी अभिधारणा निश्चित करता है। तीसरे और चौथे अध्यायों में इस विषय को और भी विस्तार से समझाया गया है, वाद-विवाद द्वारा खण्डन-मण्डन करते हुए विभिन्न उदाहरणों की सहायता से स्पष्टीकरण किया गया है। पहले दो अध्यायों के दर्शन को सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत किया गया है, उन्हें मुनिकाण्ड या याज्ञवल्क्य-काण्ड कहते हैं; अगले दो में इन्हीं को सविस्तार प्रतिपादित किया गया है। इस तरह पहले चार अध्यायों में ही उपनिषद् का मुख्य संदेश आ जाता है। पाँचवें और छठे अध्याय जैसे उनके परिशिष्ट हैं—पाँचवें में ध्यान की व्यावहारिक रीतियाँ बताई गई हैं और छठे में मानव-जीवन के चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की व्याख्या करते हुए उन्हें आध्यात्मिक लक्ष्य से आत्मसात् कर दिया गया है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए साधारण लोगों को कभी न कभी इन चरणों से गुज़रना ही पड़ता है।

उपनिषत्काल में अधिकांश यज्ञ किसी सांसारिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए होते थे। **बृहदारण्यक उपनिषद्** इस बात पर बल देता है कि इन ऐहिक तथा बाह्य यज्ञों के अतिरिक्त दूसरा आन्तरिक एवं आध्यात्मिक यज्ञ भी होता है जो अधिक उत्तम एवं प्रभावशाली है। बाह्य यज्ञ में हवनकुण्ड में समिधा सजाकर, घृत, सुगंधित सामग्री आदि डालकर वैदिक मन्त्रों द्वारा आहुतियाँ दी जाती हैं। ये यज्ञ भी सबकी भलाई के लिए होते हैं। कुछ सकाम यज्ञ किसी विशेष प्रयोजन के लिए किए जाते है। उदाहरणार्थ, अश्वमेध यज्ञ को लीजिए। इसमें एक राजा चक्रवर्ती पदवी प्राप्त करने के लिए एक घोड़े को सजा, उसकी पीठ पर सोने का छत्र लगाकर लगभग तीन सौ रक्षक योद्धाओं के साथ छोड़ देता था। घोड़ा एक-एक राज्य से होता हुआ यात्रा करता था। वहाँ का राजा या तो घोड़े का सत्कार कर, पहले राजा की प्रभुता स्वीकार कर लेता था, अन्यथा युद्ध करता था। यदि घोड़ा सब राज्यों से घूमकर निष्कण्टक अपने राज्य में लौट आता था तो अश्वमेध यज्ञ का आयोजन होता था जिसमें विधि-विधान से शक्ति के प्रतीक अश्व की सम्पुष्टि की जाती थी और उस राजा को 'चक्रवर्ती' घोषित किया जाता था।

उपनिषद् कहता है—ऐसा ही एक अश्वमेध यज्ञ ब्रह्माण्ड में निरन्तर चल रहा है जिसमें शक्ति-प्रतीक घोड़ा सारा ब्रह्माण्ड है। यह है भौतिक यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या। यह विशाल सृष्टि मानो वह पवित्र अश्व है। उस विराट यजनीय अश्व का सिर उषा है—**उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः**, 'सूर्य' उसकी आँख है, 'वायु' उसका प्राण है, 'वैश्वानर अग्नि' उसका खुला हुआ मुख है, 'संवत्सर' अर्थात् 'समय' इसकी आत्मा है, 'द्यु-लोक' उसकी पीठ, 'अन्तरिक्ष' उदर, 'पृथ्वी' उसके खुर हैं ···और इस तरह उपनिषद् का पहला मन्त्र उस पवित्र विराट के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की, हाड़-मांस, पसलियों, जिगर-फेफड़ों, यहाँ तक कि जंभाई लेने तथा मूत्रोत्सर्ग की, सृष्टि के विभिन्न कार्यकलापों से उपमा देता है जैसे सारी सृष्टि और उसका संचालन इस विराट अश्व में समाहित है। हम इस अश्व की जगह अपने शरीर को भी प्रतिस्थापित कर सकते हैं। जैसे उषा इस प्रतिष्ठित अश्व का सिर है वैसे ही उषा दिवस का सिर है, हमारे शरीर का सिर है। इसी तरह सूर्य के प्रकाश मे ही हम देख सकते हैं, अतः वह शरीर की आँखें है। 'प्राण' जो इस पावन अश्व को अनुप्राणित करता है, वह उसके अन्दर भी है और बाहर भी, दोनों वस्तुतः एक ही हैं। मुख को 'वैश्वानर अग्नि' कहा गया है। 'वैश्वानर' शब्द विश्व+नर से मिलकर बना है जिसे 'विराट पुरुष' कह सकते हैं। **ऐतरेय उपनिषद्** में कहा गया है कि 'विराट पुरुष' के मुख से 'अग्नि' का प्रादुर्भाव हुआ और उससे वाणी का जन्म हुआ—**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्**

(ऐतरेय-I-4)। जो बात यहाँ अश्वमेध यज्ञ के संदर्भ में 'विराट अश्व' की उपमा से बताई गई है, वैसी ही उपमा **ऐतरेय उपनिषद्** में 'विराट-पुरुष' के रूप में समझाई गई है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि यह मानव-शरीर, छोटा-सा पुरुष, उसी विराट पुरुष की प्रतिकृति के रूप में निर्मित हुआ है। यही भाव **मुण्डकोपनिषद्** के दूसरे मुण्डक के चौथे मन्त्र में दर्शाया गया है—**अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे**"'। इन सब उपमाओं, व्याख्याओं आदि का मूल संदेश यह है कि विराट पुरुष, ब्रह्माण्ड और पिण्ड—तीनों एक ही परमसत्ता के प्रतिरूप हैं, इनमें मूलतः कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस ध्यान को दृढ़ करने के लिए अनेक उपनिषदों ने अपने-अपने ढंग से मार्गदर्शन किया है।

वास्तविकता यही है—ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, पिण्ड (चाहे वह घोड़े या किसी और पशु का हो या मानव का) इन तीनों में जो हमें भेद दिखाई देता है, वह हमारे मन का भ्रम है, मनोवैज्ञानिक है, भौतिक नहीं। भौतिक विभाजन काल्पनिक है, यह एक उदाहरण से समझने का प्रयत्न करें। हमारे, आपके, सबके शरीर पाँच महाभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—से निर्मित हैं। यदि एक शरीर और दूसरे शरीर के उपादान—पाँच महाभूत—एक ही हैं तो अन्तर क्या है? भेद है अन्तराल का, एक-दूसरे से थोड़ी-बहुत दूरी का। दूसरा अन्तर है आकार-प्रकार का, रंग-रूप का। मान लीजिए मिट्टी या पीतल द्वारा बने हुए तरह-तरह के बर्तन-भाँडे हैं, या सोने या चाँदी से निर्मित तरह-तरह के आभूषण हैं। क्या इन बर्तनों या आभूषणों में मूलतः कोई अन्तर है? सुविधा के लिए आप उन्हें अलग-अलग नाम से पहचान लेते हैं, दूसरे भाषा-भाषी उन्हीं वस्तुओं को किसी अन्य नाम से पुकारते हैं। रहा दूरी का भाव, तो जब दो वस्तुएँ होंगी तो उनमे कुछ फासला तो होगा ही। गिलास और थाली यदि एक-दूसरे में मिल गए, गले का हार और कलाई की चूड़ी एक हो जाएँ तो उनकी पहचान समाप्त हो जाएगी। पर एक श्रेणी की समस्त वस्तुओं की सामग्री एक ही है—इसे भी आप नकार नहीं सकते। मुझमें और आपमें अन्तर तो है। मैं यहाँ हूँ आप वहाँ, वेशभूषा का भेद है, मानसिकता अलग-अलग है। पर ये सारे भेद नगण्य हैं, तुच्छ और असार हैं। सारे शरीर भौतिक तत्त्वों से बने हैं। जहाँ तक मन की बात है—एक तो हमारे अलग-अलग अपने मन हैं, उनके ऊपर एक विश्व-मन है, एक व्यष्टि-मन है और दूसरा समष्टि-मन है, तभी मैं अपनी बात आप तक पहुँचा पाता हूँ। यदि मेरे और आपके मन में कोई मेल ही नहीं होता तो दूर-संवेदन—टेलीपैथी—सम्भव नहीं थी। या यूँ समझें कि यह सारा वातावरण एक अनन्त स्टेशन का रेडियो-बैण्ड है जिसमें हम सब अलग-अलग एक स्टेशन के समान हैं। यदि हम चाहें तो दूसरे

स्टेशनों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं और करते रहते हैं।

सबसे पहले, सृष्टि से भी पूर्व, केवल एक था। वह 'एक' ही अनेक हो गया। हमारा लक्ष्य उसी 'एक' में पुनः प्रतिष्ठित होना है। अश्व की, या किसी भी 'शरीर' की उपमा द्वारा इस मन्त्र में यही संदेश दिया गया है कि भौतिक पुरुष का 'विराट पुरुष' से तादात्म्य दृढ़ करने का ध्यान करें। इसी तथ्य को **मुण्डकोपनिषद्** मे एक और तरह समझाते है—मनुष्य-शरीर में दो आँख, दो कान, दो नथुने और एक मुख—ये सात लोक हैं। प्रत्येक में प्राण विचरते हैं। ये सातों प्राण 'उसी' से उत्पन्न होते हैं, मानो सात प्राण-यज्ञ हो रहे हैं, जिनमें विषयरूपी सात समिधाएँ पड़ रही हैं जिनके जलने से ज्ञानरूपी सात अग्नियाँ ज्योति दे रही हैं। ये सब उसी विराट पुरुष से हैं—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिषः सप्त समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्तसप्त॥
(II-8)

बृहदारण्यक के पहले ब्राह्मण के दूसरे मन्त्र मे 'अश्व' के रूपक की विस्तृत व्याख्या की गई है। अश्वरूपी सृष्टि के अगले पैरों (या हाथों) में दिनरूपी घुँघरू बँधे हैं और पिछली में रात्रि के। दिन सृष्टि की उत्पत्ति तथा रात्रि प्रलय का द्योतक है। इस तरह 'अश्व' के प्रतीक में देश और काल के विस्तार की जितनी हम कल्पना कर सकते हैं वह सब उसमें समाहित है। फिर भी हमारी सीमित कल्पना का मान रखते हुए उपनिषत्कार कहते हैं कि दिन का उत्पत्तिस्थान (योनिः) पूर्वी समुद्र और रात का पश्चिमी समुद्र है—भूलोकवासियों की 'विस्तार' की कल्पना समुद्र तक ही समाप्त हो जाती है—**अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत, तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमा-ऽन्वजायत, तस्यापरे समुद्रे योनिः**"" (I-2)। सृष्टि की 'अश्व' से उपमा देने का एक और प्रयोजन है—'अश' का एक अर्थ भोजन मिलने का स्थान है। **शंकराचार्य** का मत है कि इस संदर्भ में 'अश्व' का अर्थ प्रजापति है जो सृष्टि के रचयिता हैं। 'समुद्र' का भी एक अर्थ 'ब्रह्म' है—जहाँ जीवन की उत्पत्ति हुई—जैसा आज के वैज्ञानिक मानते हैं—और जिसमें प्रलय के समय सब-कुछ समा जाएगा। इन भिन्न-भिन्न लगते अर्थों का समाधान इस तरह किया जा सकता है कि इस सृष्टि में साधारण मानव 'भोजन' अथवा भौतिक भोग-विलास में मग्न रहते हैं, लेकिन आज नहीं तो कल, किसी न किसी जीवन में, उन्हें भौतिक विषय-भोग से पीछा छुड़ाकर ब्रह्म में लीन होना है।

2. एक-अनेक-एक

बृहदारण्यक-उपनिषद् का पहला ब्राह्मण पढ़कर आपने यह अनुमान तो लगा लिया होगा कि उपनिषत्कार परमज्ञानी होने के साथ-साथ एक कवि-हृदय का धनी है। उसके गंभीर विचारों की विशालता अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलती है; उपमाएँ एकदम अछूती हैं और प्रतीक एक पुरातन युग की याद दिलाते है जैसे वे मानव-जाति की जड़ से उपजे हों। उसने एक लौकिक यज्ञ को आध्यात्मिक आकाश पर पहुँचा दिया और हमें यज्ञ के आन्तरिक अर्थ से अवगत कराकर धन्य कर दिया। वह अर्थ इतना सारगर्भित है कि यदि हम सृष्टि-रूपी अश्व के ध्यान को परिपक्व कर लें, उसकी अच्छी तरह जुगाली हो जाए तो हो सकता है हमारी जीवन-नैया संसार-समुद्र के उस पार पहुँच जाए।

पहला ब्राह्मण तो पहली पौढ़ी थी, दूसरा हमारी बौद्धिक क्षुधा को शान्त (या उत्तेजित) करने और भी आश्चर्यजनक उपहार ला रहा है। यह सृष्टि की उत्पत्ति की चर्चा करता है जो कोई नया विषय नहीं है, हम कई बार इसका अध्ययन कर चुके हैं; पर यहाँ जिस नवीनता से इसकी व्याख्या की गई है वह अद्वितीय है। यदि अश्वमेध यज्ञ का प्रतीक **पुरुषसूक्त** की याद दिलाता है तो यह प्रसंग **नासदीय सूक्त** की। कहते हैं सबसे पहले कहीं कुछ नहीं था, सब-कुछ 'भूखी मृत्यु' से ढका हुआ था—**नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमार अशनायया।** नासदीय तो मानता है कि यद्यपि चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था, तदपि 'एक' साँस ले रहा था। पर यहाँ तो कहा गया है कि वह एक सम्भवतः 'मृत्यु' था और वह भी भूखा—**अशनाया हि मृत्युः, तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति,** अर्थात् भूख की तीव्रता के कारण मृत्यु ने इच्छा की मैं आत्मावाला देह-रूप में प्रकट हो जाऊँ, जिससे कुछ तो खाने को मिले और मैं अपनी क्षुधा शान्त कर सकूँ।

सबसे पहले तो यह समझ लें कि ऐसा हो नहीं सकता कि पहले कुछ भी नहीं था। 'कुछ नहीं' में से तो कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता, यहाँ तो सारी सृष्टि की उत्पत्ति की बात है। **उद्दालक ऋषि** ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को यही समझाया था कि 'असत्' से 'सत्' आ नहीं सकता, और 'सत्' से 'सत्' उत्पन्न होने की बात अटपटी लगती है, अतः सत् पहले था, आज है और आगे भी रहेगा। **गीता** भी यही कहती है—**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** (II-16)—असत् कभी था नहीं और सत्य का कभी अभाव नहीं था। 'कुछ नहीं था' का

आशय यह है कि कोई बाह्य चेतना नहीं थी, देखने का यन्त्र भी नहीं था। जब ऐसी संवेदना नहीं थी तो अंधकार ही व्याप्त था। घोर अंधकार में भी एक तरह का 'प्रकाश' निहित रहता है, पर उसकी आवृत्ति इतनी सूक्ष्म होती है कि हम उसे अंधकार ही मानते हैं। 'कुछ होने को' जाननेवाला भी कोई अन्य नहीं था, शायद 'कुछ नहीं था', घोर अंधकार फैला हुआ था, न दिन था न रात्रि। इन सबका यही आशय हो सकता है कि कार्य, कर्ता में समाया हुआ था, अभी तक उसका 'विभाजन' नहीं हुआ था। 'विभाजन' कहना भी बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि वह 'अभाज्य' है। यहाँ पहली बार 'ब्रह्म' को 'मृत्यु' की संज्ञा दी गई है जो तीव्र क्षुधा से 'पीड़ित' था।

'ब्रह्म' को 'मृत्यु' कहने का कोई औचित्य तो होना चाहिए, और उसकी क्षुधा का भी। प्रलय के समय सारी सृष्टि 'ब्रह्म' में लीन हो गई थी, जैसे वह उसे खा गया था। जो भी था, सारे प्राणी, सारे मानव अपने अपूर्ण कर्मों के संस्कारों के साथ, 'उस' में समा गए थे। सृष्टि की पुनः उत्पत्ति के समय 'वह' केवल अपने-आपसे कैसे सन्तुष्ट रह सकता था? पूर्व-कर्मफल-भोग की कामना से उद्विग्न था, इसलिए उसने चिन्तन किया—**तत् मनः अकुरुत**—कि 'मैं' पुनः सृष्टि की रचना करूँ। यहाँ 'भूख' का अर्थ शारीरिक भूख से नहीं है, प्रलय के समय प्राणियों के बचे हुए कर्मों के फल-भोग का है—हमारा ऐसा अनुमान है। द्रष्टा और दृश्य की भिन्नता कैसे उत्पन्न हुई? चारों ओर घोर अन्धकार था, कोई उपादान उपलब्ध नहीं थे, तो क्या पहले उसने कुछ भौतिक सामग्री उत्पन्न की और उससे सृष्टि बनाई? ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं है। अतः यही सिद्ध होता है कि 'उस' ने अपने-आप से ही सारी सृष्टि रची; जो कुछ 'वह' पहले 'खा गया' था वह सब उसके अन्दर था और वह स्वयं पुनः भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हो गया, अतः 'वही' सृष्टि का कारण था और वही उसका परिणाम। दूसरे शब्दों में, जो कुछ कारण में है वही परिणाम में है, या परिणाम और कारण में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक-रूप हैं। **ईशावस्यम् इदं सर्वम्** द्वारा इसी गूढ़ तथ्य की ओर संकेत किया गया है।

दूसरे ब्राह्मण ने मृत्यु के रूपक द्वारा बताया कि ब्रह्म ने प्रलय के समय जड़-चेतन समेत सारी सृष्टि खा ली थी। फिर उसे भूख सताने लगी और उसने पुनः सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की जिससे वह अपनी तीव्र क्षुधा को मिटा सके। यह सब पढ़कर सोचना पड़ता है कि ब्रह्म में और हम में अन्तर ही क्या रह गया? जैसे हमें भूख लगती है, उसे भी लगती है। यह दूसरी बात है कि हम हलवा-पूरी खाते हैं, वह सृष्टि निगल जाता है। जैसे हम अनेक इच्छाएँ करते हैं

वह भी करता है। हम भवन बनाते हैं, कल-कारखाने खड़े करते हैं, वह सृष्टि रचता है, पर इच्छा तो हमारी तरह 'वह' भी करता है। इस शंका का समाधान **शंकराचार्य** अपने भाष्य में करते हैं। उनका कहना है 'वह' कोई इच्छा नहीं करता, कर सकता नहीं। वह पूर्ण है, तृप्त है, सर्वदा सन्तुष्ट है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लो, फिर भी वह पूर्ण रहता है। उसकी अन्तर्हित शक्ति से सब-कुछ होता है; न वह कोई इच्छा करता है न स्वयं उसकी किसी भी कर्म में कोई भागीदारी है। इस तथ्य को वह बड़े उपयुक्त उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—चन्द्रमा के प्रकाश में एक व्यक्ति किसी के घर सेंध लगाकर चोरी करता है, क्या उसके कुकर्म का उत्तरदायित्व चाँद पर है ? इसी तरह ब्रह्म के प्रकाश में सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है, उस सृष्टि में विभिन्न व्यक्ति तरह-तरह के शुभ और दुष्कर्म करते हैं और अपने-अपने कर्मों के अनुसार उनका फल भोगते हैं। कुछ कर्मो के फल अधूरे रह जाते हैं, और सृष्टि समाप्त हो जाती है, तब भी वे कर्म बीजरूप में विद्यमान रहते हैं। जब दूसरा कल्प आरम्भ होता है तो वे पुनः प्रस्फुटित होते हैं और कर्मो का लेखा-जोखा चलता रहता है। जब हमारे सारे पिछले कर्मों का फल हम भोग लेते हैं, और नए कर्म-बीज नहीं बोते—या तो उन बीजों को ज्ञानाग्नि से भून देते हैं, या उन्हें भगवानर्पण कर देते हैं, तभी हम जीवन-मरण के चक्र से निकल ब्रह्म में प्रविष्ट हो पाते हैं। एक बात यहाँ और स्पष्ट हो जाती है—कर्मफल का सिलसिला जन्म-जन्मान्तर ही नहीं चलता, कल्प-दर-कल्प चलता रहता है। अतः यदि हम परम शान्ति चाहते हैं, आनन्द की खोज में सफल होना चाहते हैं तो हमें अपने कर्मों के प्रति अत्यन्त जागरूक होना पड़ेगा। कर्म का श्रीगणेश विचार से होता है इसलिए पल-पल हमें अपने मन पर, अपने विचारों पर तीखी दृष्टि रखनी होगी। उपनिषदों का अध्ययन कीजिए, चिन्तन-मनन अच्छी बात है, 'जुगाली करना' और भी श्रेष्ठ है, इस विधि द्वारा जो कुछ पढ़ा है, सोचा है, उसे पचा सकेंगे, आत्मसात् कर सकेंगे। यज्ञ-अनुष्ठानों से लाभ होगा, पर आन्तरिक यज्ञ से—जैसी अश्वमेध यज्ञ की व्याख्या की गई है—आशातीत लाभ होगा।

'अश्व' का एक अर्थ है बढ़ना, फूलना। मृत्यु-ब्रह्म ने फैलने-बढ़ने के साथ-साथ यह भी कामना की कि वह 'आत्मन्वी' हो, 'मेध्य' हो, पवित्र हो—**सोऽकामयत मेध्यं म इदं स्याद्, आत्मन्वी अनेन स्याम्** (1 2.6)—फिर उसने चाहा कि मेरा यह यशोवीर्य प्राण होवे, उत्कृष्ट आत्मावाला हो। जैसे अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा एक वर्ष तक विचरता रहता है, फिर उसे वापस बुला लिया जाता है, उसी तरह यह सृष्टि एक संवत्सर, या एक 'महायुग' तक बढ़ती रहती है, जिसमें मानवी 43,20,000 वर्ष होते हैं, और फिर उसका अन्त हो जाता है। सृष्टि

की स्थिति से लेकर समाप्ति तक एक कल्प माना गया है जो ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है और ब्रह्मा की रात्रि प्रलय है जिसके बाद सृष्टि फिर आरम्भ होती है। यह एक 'अश्वमेध यज्ञ' भी कहा जा सकता है और यह सृष्टि-प्रलय का यज्ञ निरन्तर चलता रहता है। आज की वैज्ञानिक भाषा में इसको सृष्टि की सुस्थिर स्थिति, 'स्टैडी-स्टेट', कहेंगे जो हमेशा से थी और हमेशा चलती रहेगी। प्रश्न उठ सकता है कि बार-बार सृष्टि के रचने की आवश्यकता क्या है ? उसका मुख्य प्रयोजन कर्म-फल-भोग है। इस संसार में कभी कोई ऊर्जा नष्ट नहीं होती, रूपान्तरित हो जाती है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। हमने अनेक कर्म करने में ऊर्जा व्यय की। यदि वह ऊर्जा किसी फल को प्राप्त करने में लगाई है तो कुछ-न-कुछ 'फल' में रूपान्तर होना ही है। यदि वह फल इस सृष्टि-काल में नहीं मिल सका तो दूसरी सृष्टि की उत्पत्ति होनी पड़ेगी, वह ऊर्जा नष्ट नहीं हो सकती और अन्य सृष्टि या सृष्टियों में उन कर्मों का फल समाप्त करना है। इसीलिए सारे आध्यात्मिक ग्रंथ यह परामर्श देते हैं कि निष्काम कर्म करो, फल की इच्छा मत करो। यदि कोई ऐसा समय आना सम्भव हो कि सारी मानव-जाति का इतना उत्थान हो जाए कि सब निष्काम कर्म करने लगें, कर्म-बीज न बोएँ, तब यह परिकल्पना की जा सकती है कि सृष्टि की पुनरावृत्ति न हो। पर उन्नीस मुख और अन्तःकरण-चतुष्टय जब तक हैं, ऐसा सम्भव नहीं है।

इसी ब्राह्मण, और चौथे ब्राह्मण में, सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई इसकी व्याख्या की गई है। अन्य उपनिषदों में भी इसकी चर्चा हुई है। यथार्थ तो यह है कि इस विषय पर प्रामाणिकता से तो कुछ कहा नहीं जा सकता, अपने-अपने विचारों के अनुरूप अनुमान ही लगाए जा सकते हैं। इसके अध्ययन से हमें लाभ अवश्य हो सकता है—एक, हमारी संकुचित स्वकेन्द्रीय बुद्धि का व्यापक दृष्टिकोण बनने में सहायता मिलेगी; दूसरे, हमारा लौकिक जीवन एक अलौकिक पृष्ठभूमि के आधार पर अधिक नैतिक बन सकता है; तीसरे, सृष्टि के मूल प्रयोजन को समझने से हम अपने कर्मों के प्रति अत्यन्त जागरूक रहेंगे; चौथे, जीवन-मृत्यु के रहस्य को जानने से हमें **आनन्द की खोज** में अनायास ही सहायता मिलेगी, हम सच्चे अर्थ में 'पुरुष' कहे जाने योग्य हो जाएँगे। पुरुष का अर्थ है 'पुर=पहले', 'उष'=जलाना, अर्थात् जिसने सृष्टि से पहले ही अपने पापों को भस्म कर दिया है वह है 'पुरुष'। ऐसे पुरुष की इतनी महिमा है कि 'ब्रह्म' को भी 'पुरुष' कहा गया है। जैसे ब्रह्माण्ड की रचना के पूर्व 'ब्रह्म' था, उसी तरह पिण्ड की रचना के पहले ही 'आत्मा' था—**आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः** (I-4.1)।

सबसे पहले सृष्टि द्रवावस्था में प्रकट हुई। उसका ऊपरी भाग बिलोए हुए

दही के ऊपर झाग के समान था जो कड़ा होकर मक्खन हो जाता है। उसी तरह 'आप·' (जल) का ऊपरी भाग जमकर पृथ्वी बन गया। शिवानन्द आश्रम के **स्वामी कृष्णानन्द जी** अपने **बृहदारण्यक उपनिषद्** के भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि 'पृथ्वी' से ब्रह्माण्ड के समस्त पिण्डों की ओर संकेत है (पृष्ठ 68)। **पंचदशी** में ऋषि **विद्यारण्य** ने कहा है कि दैवी मनोरथ और दैवी सर्वव्यापिता ईश्वरीय सृष्टि है और जन्म से मृत्युपर्यन्त जो हम कर्म करते हैं वह मानवीय सृष्टि है। अतिसूक्ष्म से सूक्ष्म, और सूक्ष्म से स्थूल सृष्टि रचकर ईश्वर ने हाथ खींच लिया। तत्पश्चात् मानवीय दौड़-धूप, सुख-दुःख जो भी हो रहा है उसमें ईश्वर बीच में नहीं आता। आप जानें और आपके कर्म। हम सदैव अनन्त इच्छाओं के पीछे जो भागते रहते हैं उसके पीछे मूल कारण है अभाव, अपूर्णता की भावना। इच्छाएँ तो कभी पूर्ण हो नहीं सकतीं, हम अपनी चेतना का विस्तार अवश्य कर सकते हैं, पर उसके लिए धीरे-धीरे हमें जड़ता की पकड़ को ढीला करना आवश्यक है क्योंकि जड़ और चेतन का मेल हो नहीं सकता, न जड़ में चेतना फूट सकती है और न चेतना जड़ हो सकती है।

अतः जड़-जगत की रचना करने के बाद ब्रह्म ने 'मन' और 'वाणी' से अनुप्राणित चेतन-जगत बनाने की कामना की—**सोऽकामयत् द्वितीयो म आत्मा जायेतेति, स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्** (I-2 4)। जब तक जोड़े न हों, चेतन-जगत के विस्तार की कोई सम्भावना नहीं थी, इसलिए **द्वितीयमैच्छत्**—दूसरे साथी की इच्छा की। उसके लिए उसने अपने शरीर को दो टुकड़ों में बाँट दिया—'**अपातयत्**'। इस 'पत्' शब्द से पति और पत्नी बने। **याज्ञवल्क्य ऋषि** इसीलिए एक शरीर को 'अर्ध-बृगल', आधे दल के समान मानते हैं। दोनों दल मिलकर ही चना या सीप बनता है। इसी तरह अकेला स्त्री या पुरुष अधूरा है, दोनों मिलकर ही पूर्ण होते हैं। **बाइबिल** में भी कुछ ऐसी ही कथा है—'उसने' अपने ही प्रतिरूप में पुरुष को रचा और मादा को सृष्ट किया (**जेनसिस** I-27), अथवा पुरुष की पसली निकालकर स्त्री को बनाया। तदुपरान्त अन्य जीव-जन्तुओं की रचना हुई। इसी तरह जीवात्मा भी आरम्भ में अकेला था। उसने चाहा मुझे 'जाया' प्राप्त हो ताकि मैं प्रजोत्पत्ति कर सकूँ और 'वित्त' प्राप्त हो जिससे मैं कर्म कर सकूँ—**सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति** (I-4.17)। विराट पुरुष ने अपने ही समष्टि मन से सृष्टि रची, इसलिए प्रत्येक वस्तु में, कण-कण में एकमात्र वही प्रतिबिम्बित है। पहले केवल कर्ता था, सब कारणों का परम कारण था, अब अन्य पदार्थ उत्पन्न हो गए, पर वे सब उसी की सत्ता से हैं। आप दर्पण में अपने-आपको ही तो देखते हैं। पहले

आप अकेले थे—अब भी अकेले हैं—पर आपका प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखाई दे रहा है। उसमें जो आपका बायाँ भाग है वह दायाँ और दायाँ भाग, बायाँ दिखाई देता है। ये 'सब्जेक्ट' (subject) और 'ऑब्जेक्ट' (object), कारण और कार्य का अन्तर है जो केवल भ्रम है, माया है। दोनों एक ही हैं—एक मूल, दूसरी छाया। इस उदाहरण को ध्यान में रखते हुए, आप सारी सृष्टि में उसी विराट ब्रह्म के दर्शन करने का अभ्यास दृढ़ करें—करत-करत अभ्यास के जड़ मति होत सुजान।

3. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद

बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय में अजातशत्रु तथा गार्ग्य के सम्वाद (पहले से तीसरा ब्राह्मण) से कहीं अधिक कोमल और कमनीय है **ऋषि याज्ञवल्क्य** की अपनी दो पत्नियों से बातचीत। ऋषि सब-कुछ त्यागकर संन्यास, अन्तिम आश्रम, में प्रवेश करने जा रहे हैं और अपनी सारी सम्पत्ति को मैत्रेयी और कात्यायनी में बाँट देना चाहते हैं—"मैं कब तक गृहस्थाश्रम में ही फँसा रहूँगा। अब समय आ गया है कि जो कुछ मेरे पास है, मैं तुम दोनों को देकर पूर्णरूपेण ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में लग जाऊँ।" मैत्रेयी ने कहा : "आपका बड़ा सुन्दर विचार है कि आप हम दोनों को सुखी एवं सन्तुष्ट देखना चाहते है, पर क्या इस सम्पत्ति को पाकर मैं परमानन्द प्राप्त कर सकूँगी? जीवन-मृत्यु के चक्कर से छुटकारा पा अमर हो जाऊँगी? जो धन-सम्पत्ति आपको शान्ति नहीं दे सकी, उसे आप मुझ पर लादना चाहते हैं। मुझे तो आप ऐसी शिक्षा दीजिए जिसे जानकर मैं अमरत्व को प्राप्त कर सकूँ!" धन्य है वह पत्नी जो पति द्वारा भेंट किए गए सारे सोना-चाँदी धन-सम्पत्ति को ठुकराकर परमानन्द पाने की भीख माँग रही है। **याज्ञवल्क्य** गद्गद हो गए, उनके नेत्र पसीज गए। बोले : "प्रिय, तुमने अतिसुन्दर बात कही। क्षमा करें, जो मैं अर्थहीन, निरर्थक जानकर त्याग रहा हूँ उसका बोझ मैं तुम पर डाल दूँ—यह मेरी भूल थी। तुम कैसे अमर, अनन्त, अनीश्वर हो सकती हो, मैं इसका उपदेश तुम्हें दूँगा, बड़े ध्यान से दत्तचित्त होकर सुनो—**ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति** (II-4 2)—तुझे जीवन में धन-धान्य से अमरता पाने की आशा नहीं हो सकती। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का शेष सम्वाद शाश्वत और नश्वर, अलौकिक और लौकिक तथा अमरता

और अस्थायी के आपसी सम्बंधों की बड़ी सुन्दर व्याख्या करता है, और वह भी बड़ी अंतरंग शैली में।

याज्ञवल्क्य समझाते हैं—"प्रिय मैत्रेयी। पति पत्नी से उसके प्यार के लिए नहीं, अपनी आत्मा की कामना के लिए प्रिय है; पत्नी भी अपने पति को उसकी कामना के लिए प्रेम नहीं करती, अपनी आत्मा की कामना के लिए वह उस पर जान न्यौछावर करती है'''इसी तरह सांसारिक जीवन के अन्य सम्बंधों के विषय में जानना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे से, उसकी कामना हेतु लगाव नहीं रखता, अपितु उसमें अपनी आत्मा का विस्तार देखता है और इसीलिए उसकी ओर खिंचता है, उससे प्रेम-सम्बंध स्थापित करता है, उसके लिए सब-कुछ करने के लिए तत्पर रहता है, और ऐसा करने में उसे आनन्द अनुभव होता है। यही बात धन-सम्पत्ति के सम्बंध में लागू होती है।" ऋषि बड़े प्रेम से अपनी प्रिय पत्नी को बताते हैं कि "वस्तुतः हमारा—अथवा हमारे मन का—किसी बाहर की वस्तु के साथ सम्बंध हो ही नहीं सकता। मन अन्दर है, वस्तु बाहर, मन चैतन्य है, वस्तु जड़; मन मनोवैज्ञानिक है, वस्तु भौतिक। फिर भी यदि हमें किसी की संगति से, सहवास से, साथ रहने से सुख मिलता है तो वह हमारे मन का भ्रम है, क्योंकि मन का किसी अन्य बाह्य वस्तु के साथ सम्बंध ही काल्पनिक है, यथार्थ नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि हमारे अन्दर कुछ है जिसे मन जानता नहीं, पहचानता नहीं, पर वह आनन्द-स्वरूप है। हम जब कभी उस सत्य-स्वरूप की झलक बाहर देखते हैं तो हमें सुख अनुभव होने लगता है; पर सुख का केन्द्र हमारी आत्मा है; बाहर सुख नहीं है। मन का अस्तित्त्व भी 'उसी' से है, 'वही' उसका पोषण करता है, पर मन का भी अभी तक उससे परिचय नहीं है। मन तो जिस पर केन्द्रित हो जाता है, तद्रूप बन जाता है जैसे सागर की लहरें वायु के झोंकों से भिन्न-भिन्न रूप ले लेती हैं। इसलिए, प्रिय मैत्रेयी, यदि तू अमरत्व चाहती है तो बाहर की वस्तुओं से नाता तोड़! तेरा तर्क सर्वदा सत्य है कि जिस सम्पत्ति का मैं त्याग कर रहा हूँ उसके भोग से तू कदापि पूर्णानन्द को प्राप्त नही कर सकेगी, उसके लिए तो तुझे आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। यह धन-सम्पत्ति न मेरी थी न तेरी होगी।

सांसारिक वस्तुओं की कुछ ऐसी व्यवस्था है कि उनका कभी कोई स्वामी हो नहीं सकता। किसी भी वस्तु के स्वामित्व का भाव काल्पनिक है, नकली है, केवल मनोवैज्ञानिक है। मन की एक विचित्र दशा है। मेरे एक मित्र हैं, उनकी अपने गाँव में ज़मीन थी जो उन्होंने बेच दी। ज़मीन जैसी थी, जहाँ पड़ी थी वैसी ही पड़ी है, उसमें लेशमात्र कोई परिवर्तन आया नहीं, केवल कुछ कागजी

लिखा-पढ़ी हो गई। पहले मेरे मित्र अपने को उस जमीन का 'मालिक' समझते थे, अब दूसरा समझता है। यह भी ठीक है कि जब उनके पास यह खेत थे तो उनको सुख का आभास था, जो अब शायद नए मालिक को होगा। जब कोई वस्तु, धन, सम्पत्ति हमारे पास होती है, हम उसके स्वामी होते हैं, हम उसका भोग कर सकते हैं तो हमें सुख क्यों होता है ? चाहे कोई उस स्वामित्व को काल्पनिक ही क्यों न कहे, पर हमें सुख तो होता है, अच्छा तो लगता है। इसका कोई तो कारण होगा। **ऋषि याज्ञवल्क्य** का कहना है कि यह सुख मन की सम्भ्रांति के कारण होता है। वास्तव में उनमें सुख है नहीं। इसलिए "हे प्रिय! तू आत्मा को ही देख, उसी को सुन, उसी को जान, उसी का चिन्तन-मनन और ध्यान कर—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**"(II-4.5)। यदि तू उस आत्मा के महत्त्व को जान लेगी तो तू सब-कुछ जान जाएगी, सारे संसार की स्वामिनी बन जाएगी, तेरी सब गाँठें खुल जाएँगी, फिर तुझे कुछ भी अन्य जानने की इच्छा शेष नहीं रहेगी—**मैत्रेयि! आत्मनः दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्**।"

जिन-जिन वस्तुओं को हम अपने से, अपनी आत्मा से, अलग मानते हैं, भिन्न समझते हैं, वे सब हमें छोड़ देंगी। यहाँ तक कि जिन्हें हम निकटतम समझते हैं, परम प्रिय मानते हैं, वे भी हमसे अलग हो जाएँगे और हमें दुःख के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा; क्योंकि हमसे दूर, हमारी आत्मा से परे कुछ है ही नहीं। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, चखते हैं, स्पर्श करते हैं, सब आत्मा ही है। ऋषि याज्ञवल्क्य उपदेश देते हैं कि "यह आत्मा ही है जो विभिन्न नाम-रूप आदि में प्रकट हो रही है, विद्यमान है—**यो अन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यद् अयम् आत्मा** (II-4.6)। पर हमारा मन इस तथ्य को कभी पकड़ नहीं पाता, प्रत्येक बाह्य वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व मानता रहता है और इसी कारण सारी विडम्बना खड़ी हो जाती है। हमारा सीमित मन एक सीमित भौतिक शरीर में बन्द है। सीमाबद्ध मन, देश-काल से बँधी वस्तुओं के साथ सम्बंध स्थापित करता है और उन्हीं के साथ बँधा रहता है। उसके लिए यह समझना कठिन है कि इन समस्त सीमित वस्तुओं की पृष्ठभूमि में एक असीम सत्ता है जो इनका आधार है, इनकी बुनियाद है; यदि वह हिल जाए तो सब समाप्त हो जाएगा, कुछ नहीं रहेगा—**इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा**—यह जो कुछ है सब आत्मा ही है।

विषय दुर्बोध है। याज्ञवल्क्य तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी सहायता से वे हमें यह बताना चाहते हैं कि किसी भी कार्य को

समझने के लिए हमें उसका कारण जानना आवश्यक है, क्योंकि कोई भी कार्य हो उसमें कारण की आंशिक अभिव्यंजना होती ही है। उस 'कारण' को हम साधारण दृष्टि अथवा शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा नही देख सकते। संसार की प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बंध होता है, वह दूसरी वस्तु तीसरी और तीसरी चौथी से जुड़ी होती है, अर्थात् यदि हम एक वस्तु को भलीभाँति समझना चाहें तो ऐसा लगता है कि हमें सारी वस्तुओं को जानना होगा जिसका कोई अन्त नहीं है, अथवा हमें 'अनन्त' को जानना होगा। **मुण्डकोपनिषद्** भी सम्भवतः इसीलिए अनन्त, असीम की जानकारी को प्राथमिकता देता है—पहले ब्रह्म को जानो तभी सारे कारणों के कारण को, और प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता को ठीक-ठीक समझ सकोगे, अन्यथा भटक जाओगे, इसलिए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए संन्यास लेना आवश्यक है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम चारों आश्रमों का भी पालन करें और ब्रह्मज्ञान की, सब कारणों के कारण को जानने की, परमानन्द का अनुभव करने की चेष्टा भी करते रहें? जैसा कहा गया है—एक हाथ काम पर, दूसरा राम पर, दोनों का समन्वय करने का अभ्यास करें।

एक उदाहरण **ऋषि याज्ञवल्क्य** नगाड़े की ध्वनि का देते हैं। जब कोई नगाड़े पर चोट करता है, हमें उसकी आवाज़ सुनाई देती है। यदि हम उस ध्वनि को पकड़ना चाहें तो हमें नगाड़ा बजानेवाले को ढूँढना होगा। इसी तरह यदि कोई शंख बजा रहा है तो हमें बजानेवाले को पकड़ना होगा। वीणा या कोई तन्त्री वाद्य के स्वरों मे हेर-फेर करना हो तो वादक से सम्पर्क करना होगा। वीणा के एक स्वर को सुनने से कोई आनन्द नहीं आता; जब सारे स्वर लयबद्ध होते हैं तभी संगीत फूटता है। एक परिवार के विभिन्न सदस्य मानो एक-एक स्वर के समान हैं। जब ये सारे स्वर एक होकर गूँजते हैं तभी परिवार का सुख मिलता है। इसी प्रकार समाज और संसार को समझना चाहिए। सबके मेल में, लय में, ताल में ही समाज का, संसार का सुख है, अन्यथा एक सुर खोटा होने से सारा संगीत बेसुरा हो जाता है। कुछ ऐसा ही हुआ है अमरीका के दो विशाल मीनारी इमारतों के धराशायी हो जाने से। एक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। अब वे कैसे विध्वंस हुए, उसका कारण क्या था, खोज हो रही है। एक घटना दूसरी घटना से और वह तीसरी से एक अनन्त कड़ी के रूप में जुड़ी हुई है। प्रत्येक कड़ी की तलाश चलती रहेगी, और उससे निबटा भी जाएगा, पर जब तक पूरी कड़ी का निरीक्षण नहीं होगा, समस्त घटनाओं का मूल कारण पता नहीं चलेगा, समाधान होना सम्भव नहीं है। जो सीमित जानकारी होगी वह निरर्थक होगी। चाहे सांसारिक जीवन हो या आध्यात्मिक, खण्डशः, थोड़ी-थोड़ी जानकारी से काम बनता नहीं

समग्र, सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। उपाय है, और वही उपाय ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को, साथ-साथ हमें भी, बता रहे हैं। वह है सनातन, शाश्वत, सम्पूर्ण में डुबकी लगाना, उसके साथ नाता जोड़ना।

सारी सृष्टि, और उसकी सारी जानकारी, उसी असीम सम्पूर्ण तत्त्व से निकली है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—"हे मैत्रेयी, जैसे गीली लकड़ियों के जलाने से धुआँ निकलता है, उसी तरह यह सृष्टि 'उसी' से उत्पन्न हुई है, जैसे यह सब उसकी श्वास की रेचक क्रिया है—**स यथा आर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य** (II-2.10) उसी तरह उस महानात्मा का **ऋक्, यजु, साम**, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, उपनिषद् और उनके व्याख्यान आदि उस महानात्मा का निःश्वास हैं। इस तथ्य को ऋषि एक और उदाहरण देकर समझाते हैं—**स यथा सर्वासामयां समुद्र एकायनम्**—जैसे सब जल, सारी नदियाँ, समुद्र में पहुँचते हैं; **एवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्**—सारे स्पर्श त्वचा ही अनुभव करती है **एवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्**— सारी गंध नासिका को, और इसी तरह सारे रूप चक्षु को, शब्द श्रोत्र को, संकल्प मन को, विद्या हृदय को, और इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में कहा गया है, उसी तरह आत्मा ही से सम्पूर्ण सृष्टि का प्रसार है। हम किसी कार्य का तुरन्त कारण तो जान सकते हैं, लेकिन एक कार्य दूसरे कार्य से जुड़ा हुआ है, सब कार्यों का मूल कारण समझने में हमारा मन एवं बुद्धि समर्थ नहीं हैं। यदि उसको किसी प्रकार से जानना सम्भव हो सके और हमे उन रहस्यमय सब कारणों के 'कारण' का ज्ञान हो जाए तो जैसे ज्ञान की बिजली कौंध जाएगी और हम उस अनन्त असीम की आभा को एक क्षण में अनुभव कर सकेंगे।

आपको याद होगा जब **छान्दोग्योपनिषद्** में श्वेतकेतु यह नहीं समझ सका कि ब्रह्म सर्वत्र है तो दिखाई क्यों नहीं देता? तब उसके पिता **ऋषि उद्दालक** ने नमक और पानी का उदाहरण दिया था। वह उदाहरण **ऋषि याज्ञवल्क्य** मैत्रेयी को दे रहे हैं कि यदि तू एक डला नमक पानी में डाल दे तो सारा पानी खारी हो जाएगा—ऊपर, नीचे, बीच से कहीं का भी पानी चखो वह नमकीन ही होगा, पर यह नहीं देखा जा सकता कि नमक कहाँ है, उसी तरह **इदं महद् भूतम् अनन्तम् अपारम् विज्ञानघनः**—यह महान् जीवन-शक्ति, यह अनन्त-अपार विज्ञान-घन आत्मा इन समस्त भूतों में घुला-मिला मिलता है (II-4 12)। जब तक 'वह' इन सब में प्रकट हो रहा है तभी तक उसका नाम-रूप है, जब 'वह' नहीं रहता तो कुछ नहीं रहता उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। हम जिसे ज्ञान कहते हैं वह

किसी न किसी वस्तु, विषय अथवा व्यक्ति की जानकारी है। वास्तविक 'ज्ञान' तो वह है जिसमें सृष्टि में जो कुछ भी है वह सब एक-साथ जाना जा सके।

4. मधु-विद्या की व्याख्या

पिछले लेख में संकेत दिया गया था कि संसार की प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से जुड़ी हुई है, वह तीसरी से, और तीसरी चौथी से इत्यादि। इस तरह सब-कुछ एक-दूसरे के साथ एक अनन्त कड़ी में जुड़े हुए हैं, जैसे—जो कुछ हम देखते हैं वे सब 'एक' धागे में मनकों की माला के समान पिरोए हुए हैं। इस अत्यन्त गूढ़ रहस्यमय विषय की **मधुविद्या** के प्रसंग में विस्तृत व्याख्या की गई है। इस विद्या के महत्त्व को एक कथा द्वारा दर्शाया गया है। सबसे पहले राजा इन्द्र ने इस विद्या को **दध्यङ् ऋषि** से सीखा। उसे जानकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ऋषि से प्रार्थना की वह यह विद्या किसी अन्य व्यक्ति को न सिखाएँ। साथ ही यह धमकी भी दी कि यदि उन्होंने इसे सिखाया तो वे ऋषि का सिर काट देंगे, स्वर्गलोक के स्वामी जो थे, कुछ भी कर सकते थे। जब देवताओं के वैद्यराज अश्विकुमारों को इस विद्या का पता चला तो वे भी दध्यङ् ऋषि के पास आए और उनसे **मधुविद्या** का रहस्योद्घाटन करने का आग्रह किया। ऋषि ने अपनी कठिनाई से उन्हें अवगत कराया और कहा कि ऐसा करने से उन्हें अपने जीवन से हाथ धोने पड़ेंगे। पर दैवी वैद्यों ने उसका विकल्प निकाल लिया। उन्होंने सुझाव दिया कि वे ऋषि का सिर काटकर कहीं सुरक्षित रख लेंगे और उसके स्थान पर घोड़े का सिर लगा देंगे। जब इन्द्र को विद्या सिखाने का पता चलेगा तो वह उनका घोड़े का सिर काट देगा और अश्विकुमार फिर उनका असली सिर लगा देंगे। जब ऋषि मान गए तो वैसा ही किया गया और दोनों कुमारों ने भी उनसे **मधुविद्या** की शिक्षा ग्रहण की। जब राजा इन्द्र को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने ऋषि का घोड़े का सिर काट दिया और अश्विकुमारों ने पुनः दध्यङ् ऋषि का अपना सिर यथास्थान लगा दिया।

इस विद्या का मूलतत्त्व यह है कि यदि मैं एक समय में मेज़ को छू रहा हूँ तो उसी समय सूर्य को भी छू रहा हूँ, यदि मैं एक विशेष वस्तु को देख रहा हूँ तो साथ ही मैं समस्त वस्तुओं को देख सकता हूँ, यदि मैं आपसे बात कर रहा हूँ तो सबसे बात कर रहा हूँ, यदि मैंने एक वस्तु को अच्छी तरह जान लिया है तो मैंने

समस्त वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह **बृहदारण्यक उपनिषद्** की अत्यन्त विचित्र विद्या है और कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि इन्द्र चाहते थे कि ऐसी अद्‌भुत विद्या उनके अतिरिक्त अन्य किसी को मालूम न हो पाए।

दूसरे अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण के पहले चौदह मन्त्रों में विभिन्न वस्तुओं का उदाहरण देकर अन्त में एक ही तथ्य दोहराया गया है—**यः अयम् आत्मा इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म सर्वं,** अर्थात् यह जो हमारा ज्ञेय है, आत्मा है, यह अमर है, यह ब्रह्म है, श्रेष्ठ है, यह ही सब-कुछ है। पहले पृथ्वी से शुरू करते हैं—यह 'पृथ्वी' सब प्राणियों का मधु है, उनका सार है, उनको मधु एवं दूध के समान प्यारी है—**इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु**। सारे प्राणी इस पृथ्वी का ऐसे ही उपभोग करते हैं, उसको ऐसे ही चूसते हैं जैसे शहद को। और पृथ्वी को भी सारे प्राणी मधु के समान ही प्यारे हैं। आशय यह है कि सबमें पृथ्वी समाई हुई है और पृथ्वी में सब-कुछ समाया हुआ है। जब आप मधु को चखते हैं, चाटते हैं तो वह आपके अन्दर समाविष्ट हो जाता है, पच जाता है। उसी तरह पृथ्वी ने सबको अपने अन्दर पचा रखा है और सबने पृथ्वी को अपने रोम-रोम में पैवस्त कर रखा है। **अस्यां पृथिव्यां तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः यः च अयम् अध्यात्मं शारीरः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः**—पृथ्वी और प्राणियों के अतिरिक्त एक और महान् तत्त्व है जो इन दोनों—पृथ्वी और प्राणियों—में विद्यमान है, और दोनों से महान् है। यह भी कहा जा सकता है कि वह तत्त्व इन दोनों का आधार है, उसी के कारण इन दोनों का अस्तित्व है, इनकी पहचान है। वह तेजोमय है, अमृतमय है, अत्यन्त जाज्वल्यमान है, अजर है, अमर है; यह पृथ्वी और उसके प्राणी भले ही सदा न रहें, पर वह तत्त्व तो सदैव रहेगा, सनातन है, नित्य है। वह 'पुरुष' है क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुरुष' का अर्थ है जो सबमें रहता है, जो सबको अनुप्राणित करता है चाहे वह एक व्यक्तिगत पिण्ड हो, चाहे ब्रह्माण्ड हो। जब वह सारी सृष्टि को गति देता है, तब हम उसे 'पुरुषोत्तम' कहते हैं।

'यही सब-कुछ है'—पिण्ड और ब्रह्माण्ड में कोई अन्तर नहीं है। यदि हम पूर्ण में से थोड़ा-सा भाग ले लें तो दोनों की संरचना में कोई अन्तर नहीं आ जाता। गंगा के जल से यदि हम एक गिलास जल ले लें तो क्या वह पावन गंगा के जल से भिन्न हो सकता है? खीर के बड़े पतीले से एक कटोरी खीर निकाल लेने से दोनों के स्वाद में कोई अन्तर होने की सम्भावना नहीं है। यहाँ जो एक भाग को सम्पूर्ण से जोड़ता है उसे 'पुरुष' कहा गया है, जो प्राणी को अमर तत्त्व से मिलाता है वह आत्मा है—**यः अयम् आत्मा**। वही सब-कुछ है—**इदम् सर्वं**। यही ब्रह्म है जिससे सारी सृष्टि भरी हुई है, जो सारी सृष्टि में वास करता है—

ईशावास्यं इदं सर्वं, जो हर प्रकार से सम्पूर्ण है, जो तेजःपुञ्ज है।

शेष चार महाभूतों के विषय में भी ऋषि इसी तरह, करीब-करीब उसी भाषा में समझाते हैं जिससे व्याख्या में कोई भ्रम अथवा द्विधा अनुभव न हो—यह जल, तत्त्व प्राणियों के लिए मधु-समान है, और जल के लिए प्राणी मधु हैं, दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बंध है, पर एक की भी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, दोनों में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष व्याप्त है, यह समष्टि-रूप ब्रह्माण्ड का 'आत्मा' है और व्यष्टि-रूप में पिण्ड का, प्राणियों का, आत्मा है—**तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसः**—व्यक्ति में जल उसका बीज है, मूल शक्ति है और ब्रह्माण्ड में वही जल-तत्त्व है और दोनों को वह 'पुरुष' जोड़ता है, मिलाता है। इसी तरह अग्नि वाणी के रूप में मुखरित होती है, वायु प्राण बनकर, पर किसी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, सबका आधार वही तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वही सब-कुछ है।

पञ्चमहाभूतों की बात करने के बाद उपनिषत्कार इन्द्रियों का उदाहरण देकर समझाते हैं। सूर्य और नेत्रों के बीच वही 'पुरुष' सम्बंध स्थापित करता है। यदि उसका आधार न हो तो सूर्य तपे नहीं, चमके नहीं, और नेत्र होने पर भी हम कुछ न देख सकें। 'वह' न हो तो दिशाएँ गूँजें नहीं और कान सुनें नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के बारे में समझना चाहिए, वह 'पुरुष' ही सबका कारण है, वही सब-कुछ है, वह न हो तो कुछ भी नहीं है। महाभूतों तथा इन्द्रियों के विषय में पुरुष के प्रभुत्व को समझाने के पश्चात् ऋषि कहते हैं कि सारी सृष्टि एक ही सिद्धान्त पर चलती है, व्यक्ति के संदर्भ में उसे धर्म कहते हैं और ब्रह्माण्ड में ऋतु। धर्म अलग-अलग—मेरा धर्म, तेरा धर्म, उसका धर्म—नहीं होते; सबका एक ही धर्म है। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि धर्म का अर्थ किसी सम्प्रदाय से नहीं है, शाश्वत धर्म से है जैसे अग्नि का धर्म है जलाना, वह कल भी जलाती थी, आज भी जलाती है और भविष्य में भी जलाएगी, भारत में जलाएगी, अमरीका में जलाएगी, विश्व में सब जगह जलाएगी क्योंकि जलाना उसका 'धर्म' है। धर्म का व्यावहारिक अर्थ है मिलाना, जोड़ना, सबको संघटित करना, सबके साथ आत्मीयता का भाव दृढ़ करना। यह अवैज्ञानिक, असामाजिक दृष्टिकोण नहीं, अपितु इससे बढ़कर कोई वैज्ञानिक, सामाजिक सिद्धान्त हो नहीं सकता। परिवार हो, समाज हो, दफ्तर हो, व्यवसाय हो, कल-कारखाना हो, सफलता और सुख की कुंजी है सब को साथ लेकर चलना। यह तो हुआ धर्म का व्यावहारिक पक्ष। आध्यात्मिक पक्ष है आनन्द की खोज, पूर्णता को जीवन का लक्ष्य बनाकर निरन्तर उस दिशा में बढ़ते रहना। दोनों में विरोध नहीं है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। साथ

ही दोनों का ठोस आधार है, मधु-विद्या इसी की व्याख्या कर रही है। भिन्न-भिन्न उदाहरण देकर यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, विषय एक-दूसरे से सम्बंधित हैं और सब का आधार तेजोमय, अमृतमय 'पुरुष' है, आत्मा है। महाभूत हों, इन्द्रियाँ हो, धर्म हो, वह सब-कुछ है; वह नहीं तो कुछ भी नहीं। यह तथ्य जानने की ही नही, जीने की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति तभी तक बोलता है, काम करता है जब तक उसके शरीर में 'आत्मा' है। आत्मा निकलते ही जिसे हम इतना प्रेम करते थे, जिगर का टुकड़ा मानते थे, ऑखो का तारा समझते थे, उसे ही मिट्टी कहने लगते हैं। जो भी हम करते है, कर रहे हैं, यदि हम उसमें आत्मा को संसिक्त कर दें, उसे आत्मभाव से सराबोर करने का अभ्यास कर लें, तो हम धर्म का पालन कर रहे हैं। यदि हमने दिनचर्या में से आत्मतत्त्व निकाल दिया, उसका बहिष्कार कर दिया तो जैसे हमने उसकी जान ही निकाल दी; वह कर्म नहीं, अकर्म हो जाता है। हम भगवान् की, ईश्वर की बात नहीं कर रहे, एक अमर सत्ता की चर्चा कर रहे हैं जो पानी में नमक की तरह दिखाई नहीं देता, पर सर्वत्र विद्यमान है।

यह सत्ता अथवा सत्य, उपनिषद् कहता है एक ही होता है, दो, तीन, चार सत्य नहीं होते। मेरा सत्य, आपका सत्य, किसी अन्य व्यक्ति का सत्य अलग-अलग नहीं होते, हो सकते नहीं, उसी 'सत्' की विजय होती है—**सत्यमेव जयते**। वह सत्य भी उसी 'आत्मा' की अभिव्यक्ति है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—"हे मैत्रेयी! जैसे नमक जल में घुला रहता है उसी प्रकार यह महान् जीवन-शक्ति, अनन्त-अपार विज्ञानघन 'आत्मा' सब भूतों में घुला-मिला है। जब तक यह इन भूतों में विद्यमान है, उनके नाम-रूप हैं, उनकी संज्ञा है, 'उस' के चले जाने के बाद उनकी कोई संज्ञा नही रहती—**अरे इदं महद् भूतम् अनन्तम् अपारम् विज्ञानघनः एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे**"'(II-4.12)। याज्ञवल्क्य आगे समझाते हैं—"जैसे पहिए के सारे अरे उसकी नाभि से जुड़े होते हैं, उसी तरह जो कुछ दिखाई देता है, या नही दिखाई देता, वह 'आत्मा' से सम्बद्ध है। जो भी आवश्यक है या अनावश्यक है, जड-चेतन, समस्त नाम-रूप आत्मा मे स्थित हैं, जैसे प्रत्येक डंडा पहिए की नाभि में स्थित होता है—**तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाऽराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि**"'(II-5 15)।"

हमने जितने उपनिषदों का अध्ययन किया है सबमें इसी बात पर बल दिया गया है कि सृष्टि से पूर्व केवल एक सत् था जिसने अपने-आपसे—किसी अन्य उपादान से नहीं—सृष्टि का सर्जन किया। जैसे मिट्टी से बने बर्तन-भाँडे सब मिट्टी

ही है, इसी तरह उस सत्—जिसे ब्रह्म की संज्ञा दी गई है—से रचित सृष्टि ब्रह्म से भिन्न हो नहीं सकती, इसलिए सृष्टि के समस्त पदार्थों में एक सर्व-सामान्य सम्बंध है। अत: यह सम्भव है कि यदि आप एक वस्तु के मूल तत्त्व को समझ लें तो सारी वस्तुओं को समझ सकते हैं। आपको याद होगा **छान्दोग्योपनिषद्** में ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र से एक विद्या की चर्चा की थी जिसे जानने से सब-कुछ जाना जा सकता है। **मधु-विद्या** ने इस तथ्य को एक अनूठे एवं रहस्यमय ढंग से प्रस्तुत किया है। **ऋषि याज्ञवल्क्य** अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हैं कि "पृथ्वी (उसी तरह अन्य पञ्चमहाभूत भी) और उसके समस्त प्राणी एक-दूसरे को मधु के समान प्रिय हैं, पर इन दोनों में किसी की भी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। दोनों का आधार एक तीसरा अजर, अमर, तेजोमय तत्त्व है। यदि वह न हो तो सब निष्प्राण है। हे मैत्रेयी! तू सब पदार्थों को मिलाकर, संघटित कर, सबमें उस परम तत्त्व के दर्शन करने का अभ्यास कर। वही सब-कुछ है, अन्य सब मिथ्या है, माया है। तेरे सारे कर्म, सारा चिन्तन, आत्म-भाव से सराबोर होने चाहिएँ तभी उनकी सार्थकता है।"

5. राजा जनक के दरबार में शास्त्रार्थ

वाद-विवाद जैसी ज्ञान-गोष्ठियाँ जैसे आजकल होती हैं, उसी से मिलती-जुलती भारत में प्राचीनकाल में भी होती थीं। **बृहदारण्यक उपनिषद्** के तीसरे अध्याय में एक ऐसी ही सभा की चर्चा है। एक बार **राजा जनक** के मन में यह विचार आया कि वे देश में सबसे ज्ञानी व्यक्ति का पता लगाएँ और फिर उसी से ज्ञान ग्रहण करें। यहाँ पहले यह स्पष्ट कर दें कि **भागवत** और अन्य **पुराणों** में लगभग चौसठ जनकों की चर्चा हुई है जो ब्रह्मज्ञान के मुमुक्षु थे। उन्हीं में से एक **रामायण** में बताए गए **सीता** के पिता थे। हो सकता है 'जनक' केवल नाम न होकर एक मानोपाधि रही हो। जो भी हो, हमारे कथा के **जनक** ने सर्वोच्च ज्ञानी की खोज में एक बहुत बड़ा बहुदक्षिणा-यज्ञ का आयोजन किया। जैसा यज्ञ के नाम से पता चलता है, इसमें भाग लेनेवालों को दिल खोलकर दक्षिणा दी जाती थी। केवल उनके राज्य विदेह या मिथिला से ही नहीं, दूर-दूर के देशों से भी विद्वान् इस यज्ञ में भाग लेने आए। जब सबने सम्मानपूर्वक अपने आसन ग्रहण कर लिये तो इन सहस्रों ज्ञानियों के समक्ष राजा जनक ने अपना प्रस्ताव रखा—

''आप सब महान् ज्ञानी-ध्यानी हैं, मैं आप सबको प्रणाम करता हूँ। यहाँ अत्यन्त सुन्दर, स्वस्थ, दुधारू एक हजार गौएँ हैं, प्रत्येक के सींग मे दस-दस तोले सोना बँधवा दिया है। जो इन महानुभावों में 'अनूचानतम' अर्थात् अतिशय विद्वान् हो, इन वह गौओं को ले-जा सकता है, मुझे उनसे परिचय प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी।'' यह घोषणा सुन सारी सभा स्तब्ध रह गई। कुछ समय तक किसी का साहस नहीं हुआ कि वह खड़े हो यह कह सके कि मैं सबसे महान् ज्ञानी हूँ। कुछ देर बाद **ऋषि याज्ञवल्क्य** खड़े हुए। उन्होने अपने शिष्य **सामश्रवा** ब्रह्मचारी को आदेश दिया कि स्वर्ण-समेत वह सारी गौओं को हाँक उनके आश्रम में पहुँचा दे। शिष्य तुरन्त अपने गुरु की आज्ञा का पालन कर सहस्र गौओं को आश्रम ले चला।

सारी सभा में खलबली मच गई। कुछ अतिथि तो देखते रह गए, अधिकांश लोग क्रोध से लाल-पीले हो गए और कुछ ने **याज्ञवल्क्य** को चुनौती दी कि वह यह सिद्ध करे कि भरी सभा में वे सबसे महान् ज्ञानी हैं। इस तरह सभा में उपस्थित आठ महापण्डितों ने **याज्ञवल्क्य** से भिन्न-भिन्न विषयों पर बड़े तीखे प्रश्न किए। **गार्गी** ने दो बार प्रश्न किए और **ऋषि याज्ञवल्क्य** ने सबके प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया। उन प्रश्नों में कितने ही तो ऐसे हैं जो उस युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे होंगे, पर आज उनका विशेष लाभ नहीं है। जैसे, एक ने प्रश्न किया कि आज जो यज्ञ होनेवाला है उसमें होता कितनी ऋचाओं से यज्ञ करेगा, कितनी आहुतियों से 'अध्वर्यु' हवन करेगा, ऋचाएँ और आहुतियाँ कौन-कौन-सी हैं; कितने ग्रह और कितने अतिग्रह होते हैं; परीक्षित लोग कहाँ रहते हैं इत्यादि। हम यहाँ ऐसे ही प्रश्नोत्तर की चर्चा करेंगे जिनसे आज भी हमें अपने व्यावहारिक जीवन में कुछ लाभ पहुँच सके।

सबसे पहले तो राजपुरोहित **अश्वल** ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। उनका महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि हे **याज्ञवल्क्य**! संसार का प्रत्येक प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है। जो यजमान यज्ञ आदि करते हैं क्या उनको मृत्यु से मुक्ति मिल सकती है, और उसका उपाय क्या है? कठिन ही नहीं, बड़ा बेतुका प्रश्न था। सब जानते हैं जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी होगी, राजा-रंक, यहाँ तक कि ब्रह्मवेत्ता भी यमराज की पाश से बँधे हुए हैं और आज नहीं तो कल सबको काल का ग्रास बनना है। **अश्वल** तो यह जानते ही होंगे, पर उनको याज्ञवल्क्य का हजार गौएँ, वह भी दस-दस तोले स्वर्ण-समेत, अपने आश्रम ले-जाना अच्छा नहीं लगा। सभी विद्वान् तिलमिला रहे थे और ऋषि को नीचा दिखाने के लिए कमर कसे बैठे थे। **याज्ञवल्क्य** ने शान्त भाव से उत्तर दिया कि जब तक यजमान यह

समझता है कि वह किसी सांसारिक प्रयोजन से यज्ञ कर रहा है, उसकी इच्छाएँ विद्यमान हैं, उसे कोई भी मृत्यु से नही बचा सकता। दो उपाय है जिनके करने से वह अमर हो सकता है। जो उपाय उन्होंने बताए उनकी व्याख्या पहले और दूसरे अध्यायों में हो चुकी है। जैसा हमने पहले संकेत किया था **उपनिषद्** के पहले दो अध्यायों में मूल विषय को प्रतिपादित किया गया है और तीसरे तथा चौथे अध्यायों में इसकी व्याख्या की गई है। पहला उपाय तो यह है कि बाह्य यज्ञ के साथ-साथ 'आन्तरिक यज्ञ' का ध्यान करे, जो वह भौतिक रूप से कर रहा है उसके आध्यात्मिक अर्थ को समझे और उस पर अपने ध्यान को टिकाए। दूसरा उपाय यह है—जैसा **मधु-विद्या** में भी समझाया गया है—वह पिण्ड को ब्रह्माण्ड से, व्यक्ति को समष्टि से मिला दे, दोनों का सामञ्जस्य कर दे। इस तथ्य को उस युग की भाषा में इस प्रकार कहा गया है कि होता, वाणी और अग्नि का मेल कर दे। यह जो पिण्ड में वाणी है वही ब्रह्माण्ड में अग्नि है, वाणी का अग्निरूप हो जाना ही मुक्ति है, मृत्यु से छूटना है—**होता ऋत्विजा अग्निना वाचा, वाग्वै यज्ञस्य होता, तद्येयं वाक् सः अयम् अग्निः, सः होता, सः मुक्तिः, साऽतिमुक्तिः** (III-13)। जिसको ब्रह्मज्ञान हो जाए वह 'जीवन-मुक्त' ही कहलाता है यद्यपि उसके पार्थिव शरीर का अन्त तो होना ही है।

अश्वल ने फिर पूछा कि यजमान दिन-रात के बन्धन से कैसे छूट सकता है, शुक्ल-कृष्ण पक्षों के बन्धन से कैसे मुक्त हो सकता है, 'यजमान' स्वर्गलोक कैसे जा सकता है, और फिर उस दिन यज्ञ होने के विषय में अनेक प्रश्न किए। **याज्ञवल्क्य** ने उसकी सारी शंकाओं का समाधान कर दिया। आठ प्रश्न पूछने के बाद **राजा जनक** के पुरोहित चुप होकर बैठ गए। **आर्तभाग** पाँच प्रश्न पूछकर शान्त हो गए। उनका एक प्रश्न शायद कुछ हमारे लाभ का हो क्योंकि वह हम-जैसे संसार-चक्र में फँसे हुए व्यक्तियों के विषय में है। **आर्तभाग** ने पूछा कि मरणोपरान्त जब जीव की 'वाणी' अग्नि में, 'प्राण' वायु में, 'चक्षु' आदित्य मे, 'मन' चन्द्रमा में, 'श्रोत्र' दिशाओ मे, 'शरीर' पृथ्वी में, 'आकाश' महाआकाश में चले जाते हैं, फिर जीव किस आधार पर रहता है ? इस प्रश्न का **याज्ञवल्क्य** ने जो उत्तर दिया, वह हमारे बड़े काम का है। उन्होंने कहा—सारी इन्द्रियाँ आदि अपने-अपने मूल तत्त्व में मिल जाती हैं, पर सब-कुछ छूट जाने पर भी मनुष्य के कर्म उसका पीछा नहीं छोड़ते। उनके आधार पर ही उसका अगला जीवन चलता है, अतः हमें अपने कर्मो के प्रति, जिनमें हमारे मन में उठनेवाले विचार भी शामिल हैं, अत्यन्त सतर्क एवं जागरूक रहना चाहिए। आगे कुछ ऐसे प्रश्न भी किए गए जिनका कोई औचित्य नहीं है। जब **चाक्रायण उषस्त** ने ब्रह्म की

व्याख्या करने को कहा तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'आत्मा' सबके अन्दर है। उषस्त ने कहा—इससे काम नहीं चलेगा, तुम उस आत्मा को दिखाओ तो!

उद्दालक ऋषि ने भी इससे मिलता-जुलता प्रश्न किया—'कितने ही ज्ञानी कहते हैं कि वे सारे ब्रह्माण्ड के नियामक अन्तर्यामी को जानते हैं, पर यह बताता कोई नहीं कि वह क्या जानता है। याज्ञवल्क्य, क्या तुम बता सकते हो कि वह सबका नियन्त्रण करनेवाला कौन है?' **याज्ञवल्क्य** ने उत्तर दिया—हे गौतम (उद्दालक)! ब्रह्माण्ड में 'वायु' और पिण्ड में 'प्राण' ही वह सूत्र है जिसमें यह लोक, परलोक और सब प्राणी मनके की तरह पिरोए हुए हैं। **वायुर्वै गौतम! तत्सूत्रं, वायुना वै गौतम! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति** (III-7.2)। ब्रह्माण्ड की उस परम ओजस्वी शक्ति से यह सारी सृष्टि, सारे प्राणी, भिन्न-भिन्न नाम-रूप की अनेक वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं, उनकी संरचना हुई है, 'वही' उन सबका उपादान है, अत. वह सब 'उस' में समाया हुआ है, और 'वह' सब में समाया हुआ है, वही अन्तर्यामी अमृत है। अतः तुम्हें कोई ऐसा स्थान नहीं मिलेगा जहाँ 'वह' न हो, न कोई ऐसी घटना देखोगे जो 'उस' की इच्छा बिना हो रही है। वह सबका संचालक है, पर स्वयं कुछ नहीं करता। 'उसी' अन्तर्यामी के होने से हमें एक व्यक्ति जीता-जागता क्रियाशील दिखाई देता है, और जब 'वह' उस शरीर को त्याग देता है तो हम उसी व्यक्ति को मृत घोषित कर उसके क्रियाकर्म की तैयारी करने लगते हैं। जो पञ्च महाभूतों में रहते हुए भी प्रत्येक से अलग है, दिशाओं, आदित्य, चन्द्र-तारक इत्यादि सब में रहते हुए भी सबसे अलग है, जो समस्त प्राणियों में रहते हुए भी सबसे अलग है, जो सारी इन्द्रियों में रहते हुए भी प्रत्येक से पृथक् है, जो चेतना में रहता हुआ भी चेतना से अलग है और उसके भीतर से चेतना का नियमन कर रहा है, यही तेरी आत्मा 'अन्तर्यामी' है, अमृत है। संसार के जितने कारण हैं, जो उनमें रहता हुआ भी उनसे अलग है, जिसे 'कारण' नहीं जानते, जो कारणों का कारण है, बीजो का बीज है, जो सब कारणों का, बीजों का नियमन कर रहा है यही तेरी आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है। इतनी विशद व्याख्या सुनने के पश्चात् **उद्दालक आरुणि** मौन हो गए।

उसी प्रश्न का और विश्लेषण करते हुए **गार्गी** ने पुनः पूछा कि जिस सूत्र की आप बात कर रहे हैं, जिस अन्तर्यामी की हे याज्ञवल्क्य! आपने इतनी सुन्दर व्याख्या की है, उसकी नींव क्या है. वह किससे ओतप्रोत है? **याज्ञवल्क्य** ने कहा कि उसे ब्रह्मवेत्ता लोग 'अक्षर' कहते हैं। वह अविनाशी तत्त्व न स्थूल है न सूक्ष्म, न ह्रस्व है न दीर्घ; न अंगारे की तरह लोहित है न घी की तरह स्निग्ध, न छाया है

न तम, यह तत्त्व असंग है, अरस है, अगंध है, अचक्षु है, अश्रोत्र है; वाक्‌रहित, मन-रहित, प्राण-रहित, मुख-रहित, मात्रा-रहित है। इस अविनाशी तत्त्व के न कुछ अन्दर है न बाहर—**असङ्गम् अरसम् अगन्धम् अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाक् अमनः अतेजस्कम् अप्राणम्** इत्यादि (III-8.8)। इसी **अक्षरम्,** अविनाशी ब्रह्म के आदेश से सूर्य, चन्द्र, द्युलोक और पृथ्वीलोक अपना-अपना कार्य करते हैं। वह किसी स्वामी की तरह कोई आदेश नहीं देता, हुक्म नहीं चलाता, केवल उसके अस्तित्व-मात्र से सब-कुछ स्वतः होता रहता है, वह कुछ नहीं करता—**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी**—हे गार्गी! इसी ब्रह्म के नियन्त्रण में सब-कुछ हो रहा है। जो इस ब्रह्म को जानते हुए हवन-यज्ञ आदि सारे कर्म करता है, वही ब्रह्मवेत्ता है! इस सृष्टि का नियमबद्ध संचालन अत्यन्त रहस्यमय है। प्रकृति के नियम सही, सटीक एवं सुनिश्चित हैं जिनका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। इनके रचयिता को जाने बिना, इस ऋत को कोई समझ नहीं सकता। वह एक ऐसा अद्‌भुत कारण है जो कार्य की संरचना में गुथा हुआ है अतः वह कारण अन्दर से, बाहर से, सब ओर से कार्यरत है। यह ऐसा कारण नहीं है जैसे मेज बनानेवाले का कारण बढ़ई है। संरचना, कार्य, कारण सब एक-दूसरे में गुंफित हैं। अतः, समस्त अलग-अलग वस्तुओं का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध, वह कारण अदृश्य है, दिखाई नहीं देता, देखा भी नहीं जा सकता, केवल ध्यान द्वारा अन्तःप्रज्ञा से अनुभव किया जा सकता है। जो इसको जान लेता है, हे गार्गी! वह सब-कुछ जान जाता है, और जो इसको नहीं जान पाता वह कुछ नहीं जानता।

अन्त में **शाकल्य** ने प्रश्न पर प्रश्न पूछने शुरू किए। उसको 'विदग्ध' भी कहा जाता है जिसका अर्थ है सदा जलने-भुननेवाला। यहाँ तक पहुँचकर शास्त्रार्थ का स्तर बहुत गिर गया जैसे प्रश्नकर्ता का एकमात्र उद्देश्य **याज्ञवल्क्य** को नीचा दिखाने का रहा हो। 'देव', 'वसु', 'आदित्य' आदि की संख्या पूछने के बाद **शाकल्य** ने कहा : **याज्ञवल्क्य,** तुम अपने को ब्रह्मवेत्ता कहते हो तो बताओ वह 'पुरुष' कौन है जो प्राणियों का परमधाम है? **याज्ञवल्क्य** ने पूर्ण विश्वास के साथ दावा किया, जैसा **श्वेताश्वतर ऋषि** ने किया था (**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम्**—श्वेताश्वतर-उपनिषद् III-8)—''मैं उसे जानता हूँ—**वेद वैतम् पुरुषम् सर्वस्व आत्मनः परायणम्** (III-9.10)। इसी प्रश्न को विदग्ध ने कई प्रकार से पूछा—वह 'पुरुष' जो मन से उत्पन्न कामनाओं में बैठा है, जो मन को ज्योति बनाकर 'चक्षु' के सहारे 'रूप' में बैठा है, 'श्रोत्र' के सहारे मानो 'आकाश' में बैठा है इत्यादि ''क्या तू उसे जानता है?'' और सबके उत्तर में

याज्ञवल्क्य ने यही कहा : "हाँ, मैं उसे जानता हूँ—**वेद वा अहं तं पुरुषं**। ऋषि का कहना था कि जो कामनाओं में है, चक्षु तथा सूर्य में है, श्रोत्र तथा आकाश में है, वह उस 'पुरुष' को जानते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि आँख और सूर्य, कान और आकाश दूर हैं, अलग हैं, वह 'पुरुष' दोनों में क्यों कहा गया है? वस्तुतः यह उस 'पुरुष' के विराट रूप का वर्णन है जिसे **पुरुष सूक्त** में विशद रूप से बताया है। उसका चौदहवाँ मन्त्र है—**चन्द्रमा मनसा जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत, मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत** इत्यादि। जब ऐसे ही कई प्रश्नों के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बार-बार कह दिया कि वह उस 'पुरुष' को जानते है, फिर भी शाकल्य, जो जला-भुना बैठा था, ऊटपटाँग प्रश्न करता ही रहा तो **याज्ञवल्क्य** उत्तेजित हो गए। उन्होंने विदग्ध से कहा . "अब तक मैं तेरे सारे प्रश्नों का उत्तर देता रहा हूँ, अब मैं तुझसे एक प्रश्न, केवल एक प्रश्न, करने का तो अधिकार रखता ही हूँ। तू यह बता कि जिसे 'औपनिषद-पुरुष' कहते हैं वह क्या है, कैसा है, उसका वर्णन कर, और याद रख, यदि तू उसका वर्णन न कर सका तो तेरा सिर धड़ से अलग जा गिरेगा, तू लज्जा के मारे बचा न रहेगा।" **विदग्ध शाकल्य** कोई उत्तर न दे सका और इस पराजय से उसे सब विद्वानों के सामने इतना धक्का लगा कि वहीं उसका सिर फट गया और वह धराशायी हो गया। इसके पश्चात् **याज्ञवल्क्य** के कहने पर भी किसी अन्य विद्वान् को उनसे कोई प्रश्न करने का साहस नहीं हुआ; गौएँ तो वे पहले ही अपने आश्रम हँकवा चुके थे।

6. याज्ञवल्क्य का जनक को उपदेश

बृहदारण्यक उपनिषद् पहले अध्याय से ही हमारी चेतना एवं मानसिकता का विस्तार करने का प्रयत्न करता रहा है। वह सदा हमें संकीर्ण और संकुचित विचारधारा से ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा जो कुछ देखें, सुनें, सोचें, लौकिक कर्म करें, वह चाहता है, हम उसमें सदैव एक अलौकिक पुट देना न भूलें। उसका मूल संदेश है कि हम पिण्ड और ब्रह्माण्ड, व्यष्टि और समष्टि, सान्त और अनन्त को साथ मिलाकर देखने का अभ्यास करें। जब हम यज्ञ, अनुष्ठान आदि कर्म करें तो साथ ही साथ आन्तरिक ध्यान भी जोड़ दें। प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ का उदाहरण देकर वह समझाता है कि जैसा

यह लौकिक यज्ञ है वैसा ही एक अलौकिक यज्ञ सृष्टि में निरन्तर चल रहा है जिसमें इस 'विराट अश्व' का सिर 'ऊषा' है, इसकी आँखें 'सूर्य' है, प्राण 'वायु' है, मुख 'वैश्वानर अग्नि' है, आत्मा 'संवत्सर' अर्थात् समय है इत्यादि। 'मधु-विद्या' में इस तथ्य को और विशद रूप से बताया गया है। ब्रह्म ने अपने अन्दर से सारी सृष्टि का सर्जन किया, अतः प्रत्येक वस्तु में, प्रकृति के कण-कण में 'वही' व्याप्त है। हमें सारे वातावरण को, समस्त वस्तुओं को उससे ओतप्रोत जानते हुए सबको शुद्ध रखना है, यह 'उस' की उपासना का सामान्य स्वरूप है। यदि हम जल, वायु, आकाश आदि में प्रदूषण फैला रहे है, तो 'उस' का तिरस्कार कर रहे हैं, साथ ही अपने पैर में स्वयं कुल्हाड़ी मार रहे हैं! सब-कुछ 'उसी' की 'छाया' होने के कारण आपस में सम्बद्ध हैं, जुड़े हुए हैं। ये सब 'उसी' से उत्पन्न हुए हैं, 'उसी' में स्थित हैं और 'उसी' में पुनः लय हो जाएँगे। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय का आधार एक महान् तत्त्व है जैसे आँखों का सूर्य; उसके प्रकाश बिना हम कुछ नहीं देख सकते। पर सूर्य की भी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है; यदि 'वह' न हो, ब्रह्म अथवा ईश्वर न हो, तो वह चमक नहीं सकता, प्रकाश नहीं दे सकता। इसलिए हम जो कुछ करें, हमें यह निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं, कर पाते हैं, स्वयं कुछ नहीं करते, उस परमपिता परमेश्वर की सत्ता के कारण ही कर रहे हैं। ऐसा करने से हम कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाएँगे और 'उस' का ध्यान भी दृढ़ होता रहेगा। मधु-विद्या में इस महान् तथ्य की ओर संकेत किया गया है।

राजा जनक के दरबार में एकत्र सहस्त्रों ब्रह्म-ज्ञानियों के बीच चल रहे शास्त्रार्थ में महर्षि **याज्ञवल्क्य सर्वोच्च ब्रह्मवेत्ता** के रूप में उभरे। कुछ समय बाद जब वे पुनः सम्राट के राजदरबार में पधारे तो जनक ने उनसे उपदेश देने का आग्रह किया। **याज्ञवल्क्य** ने कहा कि पहले वह यह बताएँ कि उन्होंने अभी तक क्या ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जनक एक राजा ही नहीं, सच्चे मुमुक्षु भी थे, न उन्हें गुरुजनों की कमी थी। एक गुरु ने उन्हें सीख दी थी कि 'वाणी ही ब्रह्म है', दूसरे ने उपदेश दिया कि 'चक्षु ही ब्रह्म है'। इसी तरह तीसरे ने बताया कि 'प्राण' ब्रह्म है, चौथे ने 'श्रोत्र' को, पाँचवें ने 'मन' को और छठे गुरु ने 'हृदय' को ब्रह्म बताया। **याज्ञवल्क्य** ने कहा कि "अपनी-अपनी जगह ये सब ठीक हैं, पर प्रत्येक ने, हे राजन्! ब्रह्म के एक पाद, चतुर्थांश का ही वर्णन किया है, तीन-चौथाई छोड़ दिया है, या नहीं बताया और आपका ज्ञान अधूरा है। इसी से आपको शान्ति नही मिली और आपके ब्रह्मज्ञान में कमी रह गई।" जनक ने ऋषि से उस ज्ञान को पूरा करने की प्रार्थना की, इसलिए यह जनक-याज्ञवल्क्य सम्वाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'वाणी ही ब्रह्म है'—यह ठीक है, पर यह वाणी ब्रह्म का केवल एक भाग है। तीन भाग और हैं—वाणी का ठिकाना क्या है, जिसे उसका 'आयतन' कहा है, तीसरा भाग उसकी 'प्रतिष्ठा' कहाँ है, और चौथा उसकी 'उपासना' कैसे की जाए। जब इन चारो का ज्ञान होगा तब 'वाणी ब्रह्म है' का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकेगा—यह व्याख्या की **ऋषि याज्ञवल्क्य** ने। उस ब्रह्म का 'वाणी' ही शरीर है, आयतन है, जिसका आकाश स्थिति (स्थान) है, और प्रज्ञा—प्रकृष्ट ज्ञान, रहस्यज्ञान, उसकी उपासना है—**वाग् एव आयतनम् आकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञा इति एतद् उपासीत** (IV-1 2)। पिण्ड में 'वाणी' मानो ब्रह्म का आयतन है, यदि आकाश न हो तो वाणी एक से दूसरे के पास पहुँच नहीं सकती, पर तीनो का आधार चेतना, प्रज्ञा है, वही नियन्त्रणकर्ता है। कोई उसे हिरण्यगर्भ पुकारता है, कोई प्रकृति और कोई ईश्वर कहके उसकी उपासना करता है। प्रज्ञा जैसे बिजलीघर के समान है। वह निःस्पृह है, असंग है। बिजली से आप बल्ब जला लीजिए, कल-कारखाने चला लीजिए, रेलगाड़ी, 'हीटर' अथवा 'फ्रिज' प्रयोग करने का कुछ भी काम ले लीजिए। इस वाणी से ही हम एक-दूसरे तक अपनी बात, अपने विचार पहुँचाते हैं; वेद, इतिहास, पुराण तथा अन्य विषयों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त करते हैं और उस ज्ञान का वाणी द्वारा ही प्रचार-प्रसार करते हैं। यदि आप वाणी को शुद्ध रखेंगे, अशुद्ध-असत्य बात मुख से नहीं निकालेंगे तो आपकी वाणी सदा सत्य हो जाएगी। याज्ञवल्क्य कहते हैं—"हे सम्राट्! जो इस रहस्य को जानता हुआ वाणी द्वारा प्रज्ञा-ब्रह्म की उपासना करता है वह ब्रह्म को ज्ञान लेता है।"

राजा जनक को ब्रह्म का केवल एक ही पाद पता था, **ऋषि याज्ञवल्क्य** ने उन्हें शेष तीन पाद—आयतन, प्रतिष्ठा और उपासना—बताकर उनका ज्ञान सम्पूर्ण कर दिया। इन तीनों में भी सबसे महत्वपूर्ण है उपासना-पाद। फिर भी हम प्रत्येक पाद पर दृष्टि डालेंगे। 'प्राण ही ब्रह्म है', इसमें पिण्ड ब्रह्म का आयतन है, उसका शरीर है, ब्रह्माण्ड में आकाश उसकी प्रतिष्ठा है, और 'प्रिय'-रूप में उसकी उपासना करनी चाहिए—**प्राणः एव आयतनम् आकाशः प्रतिष्ठा प्रियम् इति एतद् उपासीत** (IV-1.3)। अपने-आप से, अपनी आत्मा से प्रेम ही जीवन है। 'प्रियता' प्राण से ही प्रकट होती है, इसी से प्राण-प्रिय कहा जाता है—यह 'प्राण' का एकपक्ष है। दूसरा पक्ष है कि उसका नियमन हिरण्यगर्भ द्वारा होता है। इसलिए जब आप 'प्राण' को ब्रह्म मानकर ध्यान करें तो इस सूत्र-आत्मा पर भी ध्यान करना अभीष्ट है। 'वायु' ही प्राण का रूप धारण करती है और वह आकाश में विचरती है अर्थात् वही उसकी प्रतिष्ठा है। **देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं**

विद्वानेतदुपास्ते—जो इस रहस्य को जानता हुआ प्राण को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह मरणोपरान्त परमधाम को पहुँचता है। इसी तरह 'चक्षु ही ब्रह्म है'। उसका पूरा वर्णन यह है कि पिण्ड में चक्षु ब्रह्म का 'आयतन' है, 'सूर्य' उसकी 'प्रतिष्ठा' है और 'सत्यता' उसकी 'उपासना' है, उसका सार है। केवल सुनी-सुनाई बात में संदेह हो सकता है, पर जो हम आँख से देखते हैं वह सत्य है। हमारे नेत्रों की शक्ति सूर्य पर निर्भर है और सूर्य की सत्ता परम पुरुष पर आधारित है। **जनक** को एक अन्य गुरु ने बताया था कि 'श्रोत्र ही ब्रह्म है'—यह भी ठीक है, पर यह ब्रह्म का चौथाई भाग है, अन्य भाग हैं 'आयतन', 'प्रतिष्ठा' और 'उपासना'। जो श्रोत्रों को, जिनमें ध्वनियाँ दिशाओं से आती हैं, अनन्त-रूप मानकर ब्रह्म की उपासना करता है वही 'उस' को जान पाता है। आप जिस दिशा में चलते जाएँ, दिशा समाप्त नहीं होती, वह अनन्त है, वैसे ही ब्रह्म भी अनन्त है।

सत्यकाम जाबाल ने सम्राट को उपदेश दिया था कि 'मन ही ब्रह्म है', यह भी ठीक है। पिण्ड के 'मन' में वह ब्रह्म सिमटा हुआ बैठा है और विशाल आकाश मे भी वही फैला हुआ है। यहाँ ब्रह्म 'आनन्द-रूप' है और इसी रूप मे उसकी उपासना करना उचित है। मन ही सुख-दुःख अनुभव करता है। यदि मन को उसके अधिष्ठाता चंद्र के साथ जोड़ दिया जाए और दोनों को हिरण्यगर्भ के साथ, तभी ध्यान सम्पूर्ण होता है। हमारी उसी कार्य में रुचि होती है जिसमें आनन्द मिलता है। जब तक ध्यान में आनन्द नहीं आता, ध्यान दृढ़ नहीं होता, और जब ध्यान में मज़ा आने लग जाए तब ध्यान का चस्का पड़ जाता है और वह छूटता नहीं, दिनोंदिन प्रखर होता जाता है। क्योंकि मन द्वारा अनुभव होता है इसलिए यह आवश्यक है कि जो कार्य हम कर रहे हैं उसे आनन्दित होकर करें तो हमें थकान भी नहीं होगी और हम कम समय में अधिक काम कर सकेंगे, यह गुर की बात है, परीक्षा करके देख लें। एक और बात का प्रयोग करके देखें—यदि आप मन को 'मेरा मन' मानकर चलेंगे तो उस पर नियंत्रण करना कठिन हो जाएगा, एक संकुचित अहं-भाव जो छाया रहेगा; जब आप अपने मन को समष्टि-मन के साथ मिलाकर देखने का अभ्यास करेंगे तो उसकी आप पर पकड़ ढीली पड़ जाएगी। धीरे-धीरे जब आप 'मन' को ब्रह्म-रूप देखने लग जाएँगे तब तो आनन्द ही आनन्द बरसने लगेगा। यह भी एक युक्ति है, आज़माकर देखें। मन को साँस के नियमन द्वारा भी वश में किया जा सकता है। प्राणायाम द्वारा तो साँस को नियंत्रित करते ही हैं, पर यदि आप लम्बी गहरी साँस लेने का अभ्यास करें तो बड़ी सहायता मिलेगी। जब कभी मन इधर-उधर भागे, दस-बारह गहरी साँसें लें, मन तुरन्त शान्त हो जाएगा। जैसे-जैसे आपका ध्यान टिकने लगेगा आनन्द की अनुभूति बढती जाएगी।

एक और गुरु ने जनक को उपदेश दिया : 'हृदय ही ब्रह्म है'। हृदय और मन का काफी तालमेल है—जहाँ हृदय होगा वहीं मन जाएगा, और इसका विपरीत भी ठीक है। मन कभी एक स्थान पर टिकता नहीं—जिस चीज को आप चाहते हैं वहीं मन चला जाता है। माता का हृदय अपने बच्चे में होता है, धनी का धन में। यह स्थिति जाग्रतावस्था की है जब हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ अत्यन्त प्रखर होती हैं। ऋषि **याज्ञवल्क्य** जनक को धीरे-धीरे जाग्रत से स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्तावस्था की ओर ले जाते हैं : "हे राजन्! जिस हृदय को तू ध्यान का केन्द्र समझ रहा है वह उसका केवल स्थूल रूप है। इसका नियमन एक अदृश्य, अनन्त सत्ता कर रही है, तू उस पर मन—हृदय को केन्द्रित कर, वही ब्रह्म है।" जैसे मछली नदी के पानी में इधर-उधर तैरती रहती है, उसी तरह मनुष्य भी जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओं में विचरता रहता है। जाग्रत स्थिति में वह ममता-मोह से बँधा रहता है; स्वप्न में चिदाकाश द्वारा, निर्लिप्त, भोग भोगता है, पर सुषुप्ति में वह अपने सच्चे स्वरूप के सबसे निकट होता है। जैसे एक श्येन, गरुड़ पक्षी जब आकाश में उड़ते-उड़ते थक जाता है तो वह दोनों पंख समेट अपने नीड़ की ओर दौड़ता है, उसी तरह यह पुरुष, जाग्रत एवं स्वप्नरूपी अपने दोनों पंखों को समेटकर, अपने घोंसले में आ जाता है जहाँ न जाग्रत अवस्था की कामनाएँ हैं, न सपने होते हैं—**यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति** (IV-3 19)।

7. ध्यान के सिद्धान्त

चौथे अध्याय के अगले ब्राह्मणों में विशेष रूप से तीन विषयों की चर्चा की गई है। मनुष्य की विभिन्न स्थितियों—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—की विशद व्याख्या है जिनकी मुख्य बातों पर हम माण्डूक्योपनिषद् के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं। अन्य ब्राह्मणों में मरणोपरान्त जीवात्मा कैसे, कहाँ जाता है और पुनर्जन्म की चर्चा की गई है। हमारा मुख्य विषय इस जीवन में **आनन्द की खोज** है और हमें वर्तमान जीवन को सफल एवं सुखी बनाने पर अपना ध्यान केन्द्रित करना है। हम इस जीवन में केवल क्षणिक सुख को पाने की बात नहीं कर रहे, उसे परमानन्द की ओर ले-जाने का लक्ष्य लेकर चल रहे हैं। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही हमने उपनिषदों का आश्रय लिया है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान की व्याख्या इनसे बढ़कर विश्व के किसी काल के किसी दार्शनिक साहित्य में और कहीं नहीं

मिलती, और वह भी इतनी सरल, सटीक एवं सुन्दर भाषा में। कितने ही उपनिषत्कारों ने इस तथ्य का दावा किया है : ''मै उसे जानता हूँ।'' ऐसा उद्घोष कहीं भी पढ़ने को नहीं मिलता, और जिन्हें स्वयं ब्रह्म का ज्ञान है, वही उसकी व्याख्या करने के अधिकारी हैं।

पाँचवें अध्याय में ब्रह्मज्ञान के 'ध्यान' के कुछ उदाहरण दिए गए हैं। पर ध्यान आरम्भ करने के पूर्व हमें कुछ तैयारी कर लेना आवश्यक है, अन्यथा हमारा ध्यान टिकेगा नहीं। इस लेखक ने अपनी पुस्तक **जीने की कला** में (गत एक वर्ष में उसके तीन संस्करण निकल चुके हैं) मन को वश मे करने के उपायों पर प्रकाश डाला है। कितने ही पाठकों के पत्र आते रहते हैं कि 'ध्यान नहीं जमता'। इसलिए 'ध्यान' की चर्चा करने के पहले क्या तैयारी करनी चाहिए यह बताना बहुत ज़रूरी है। **पतंजलि के अष्टांग योग** में 'ध्यान' सातवें स्थान पर, समाधि के पूर्व, आता है। उसके पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा का अभ्यास करना होता है। यदि कोई विद्यार्थी चार-छह वर्ष में ही एम.ए की परीक्षा पास करना चाहे तो वह तो सम्भव नहीं है। ऐसा ही 'ध्यान' के विषय में समझना चाहिए, पग-पग ही आगे बढ़ना होगा। यदि कोई व्यक्ति 23 घण्टे तो सांसारिक सरगरमी में लगा रहे और एक घण्टा ब्रह्म का ध्यान करे तो उसका मन संसार की ओर भागेगा, जबकि एक घण्टा भी कम ही लोग निकाल पाते हैं। अतः पहला पग तो यह है कि अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, कामनाओं को कम करना आरम्भ करें। जैसे-जैसे सांसारिक कामनाएँ कम होती जाएँगी, परमेश्वर के प्रति खिंचाव बढ़ता जाएगा। हम दो नावों पर सवार होकर भव-सागर पार करना चाहते हैं, यह तो सम्भव नहीं है। एक उत्साह-वर्धक तथ्य है—लौकिक उन्नति की तुलना में अलौकिक उन्नति बड़ी तीव्र गति से होती है क्योंकि सच्चिदानन्द आपका सच्चा स्वरूप है, सांसारिक थपेड़े खाना नहीं, सच मानिए, यह परखी हुई बात है।

दूसरे, लोभ कम कीजिए। महत्त्वाकांक्षा बुरी नहीं है, होनी चाहिए, पर इतनी अधिक भी नहीं कि उसका तनाव आपका स्नायु-तंत्र सहन न कर सके। उच्छृंखल कामनाएँ, महत्त्वाकांक्षा में घी का काम करती हैं, दोनों का चोली-दामन का साथ है। भारत में सदा से ही संतोष की सराहना की गई है—**सन्तोषं परमं सुखम्**। अब तो बढ़ती हुई स्पर्धा देखकर पाश्चात्य विद्वान् भी इसकी दुहाई दे रहे हैं। सामान्य सुख से रहने के लिए धनोपार्जन करना एक गृहस्थ के लिए मान्य है, पर यदि एक भवन है तो दूसरे भी होने चाहिएँ, एक गाड़ी है तो क्या हुआ नवीनतम मॉडल होना आवश्यक है—यह अभद्र भावना है। कहीं तो सीमा

निर्धारित करनी होगी। इसी लोभ के कारण समृद्धिशाली देश, अर्ध-विकसित तथा विकासशील देशों का शोषण करने के नए-नए नियम बना रहे हैं, प्राकृतिक सम्पदा को नष्ट कर रहे हैं, जल और वायु को प्रदूषित करने में नहीं हिचकिचाते, जैसे भी हो लाभ में वृद्धि होनी चाहिए। आए दिन समाचार आते रहते हैं कि सागर का जल दूषित होने से हजारों कछुए और मछलियाँ किनारों पर मृत पाई गईं। पशु-पक्षियों की कई प्रजातियाँ मानव के लोभ के कारण नष्ट हो चुकी हैं। इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय नियम भी निर्धारित कर दिए गए हैं, पर कोई ध्यान नहीं देता।

तीसरे, हमें मन की शुद्धि के प्रति विशेष ध्यान देना होगा; दूसरे शब्दों में, मानसिक विकारों से मुक्ति पानी होगी। यम-नियम का यही मुख्य उद्देश्य है। कृपया ध्यान दें, यदि आपके मन में क्रोध, ईर्ष्या आदि कोई विकार उठता है तो उससे सबसे अधिक हानि स्वयं आपको होती है—रक्तचाप तीव्र हो जाता है, ग्रंथियों से विषाक्त स्राव होने लगता है, पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है, यहाँ तक कि पेट में फोड़े हो जाते हैं, तंत्रिका-तंत्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है आदि। फिर, जिस पर क्रोध करते हैं, या ईर्ष्या संजोए हुए हैं उसे हानि पहुँचती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आपके विकार से सारा वातावरण दूषित हो जाता है। यदि आप विकारों से मुक्त नहीं होंगे, या उन्हें कम नहीं करेंगे, तो 'ध्यान' कैसे कर पाएँगे! जब भी आप ध्यान करने बैठेंगे तो ईर्ष्या-क्रोध जिस व्यक्ति से करते हैं वह सामने आ जाएगा और ब्रह्म तो दूर-दूर तक दिखाई नहीं देगा। यह तो विकारों की बात है, यदि कोई भी गहरा विचार आपके मन मे उतर गया है तो वही आप पर हावी रहेगा।

एक कथा है—एक असुर भगवान् शिव की अत्यन्त तन्मयता से उपासना कर रहा था। देवगण घबरा गए—भोलेनाथ तो बहुत सरलता से पसीज जाते हैं। यदि वह प्रसन्न हो गए और उन्होंने उस असुर से वर माँगने को कहा तो वह न जाने क्या वर माँग ले और शंकरजी तो 'तथास्तु' कह देंगे। देवताओं ने अपनी चिन्ता महर्षि नारद को बताई। नारद ने उन्हें आश्वासन दिया कि वह सब शीघ्र ही ठीक कर देंगे। नारदजी 'नारायण'-'नारायण' कहते असुर के पास गए और उसकी बड़ी प्रशंसा की : "तुम्हारी तपस्या से भगवान् शिव अत्यन्त प्रसन्न हैं और शीघ्र ही तुम्हें दर्शन देनेवाले हैं।" चलते-चलते वह उसे एक चेतावनी दे गए : "हे वत्स! जब तुम तप करो तो बन्दर का ध्यान मत करना!" असुर ने कहा : "महाराज, मैं बन्दर का क्यों ध्यान करने लगा? आप निश्चिन्त रहें।" उसके बाद जब जब वह भगवान् शिव का ध्यान करने बैठे बन्दर का मुख सामने आ जाए;

उसको हटाने के प्रयास में बन्दर का ध्यान और दृढ़ होता गया और उसकी सारी तपस्या भंग हो गई।

इस विकार के विकृत रूप में एक व्यक्ति दूसरे को दुःखी देखकर सुखी होता है और सुखी देखकर दुःखी। ऐसी मनोवृत्ति के होते हुए कोई ईश्वर पर कैसे ध्यान जमा सकता है जो सर्वत्र है, सबमें है, सारी सृष्टि में बसा हुआ है। किसी प्राणी को दुःख-दर्द में तड़पते देखकर दुःखी होना स्वाभाविक है। जहाँ तक बन पड़े उसकी सहायता करने का, कष्ट निवारण करने का प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है। उर्दू के मशहूर शायर 'मीर' ने कहा है—

काँटे लगे किसी के तड़पते हैं हम ए 'मीर'।
सारे जहाँ का दर्द, हमारे जिगर में है॥

यह तो रही मानवता की, इन्सानियत की बात। ब्रह्म का ध्यान और उसके प्राणियों से वैर, ये दोनों विपरीत वृत्तियाँ हैं और साथ-साथ चल नहीं सकतीं। अतः ध्यान की सातवीं सीढ़ी तक पहुँचने के लिए विकारों पर विजय पाकर, जहाँ तक हो सके, मन की शुद्धि परमावश्यक है। मन तो एक ही है चाहे उसके द्वारा संसार का चिन्तन कर लें या ईश्वर का। दूसरे छोर पर हैं गोकुल की गोपियाँ— जब कृष्ण ने मथुरा में उनके विरह की गाथा सुनी तो वे विह्वल हो उठे और उन्होंने उद्धव को उन्हें समझाने भेजा कि क्यों 'ग्वाले' की बाट जोह रही हो, ईश्वर का ध्यान करो। उन्होंने उत्तर दिया—

ऊधो, मन न भए दस बीस,
एकौ हुतो सो गयो स्याम संग
अब को साधे ईस। ऊधो'''

उधर संत तुलसीदास को देखिए जो सियाराम-मय जानते हैं सारे जग को।

जब आप किसी यात्रा पर जाने का विचार करते हैं तो उसके पूर्व कितने ही आयोजन करते हैं। यहाँ तो आप अध्यात्म-यात्रा पर निकल रहे हैं। यदि ऐसे ही चल पड़े तो भटक जाएँगे, अपने लक्ष्य पर पहुँचना बहुत दूर की बात है। एक और विचित्र बात है—इस सफ़र पर निकलने के लिए कुछ सामान, धन-सम्पत्ति एकत्र नहीं करना है; जो कुछ पास है उसे छोड़ देना है, उससे विरक्त होना है, कितनी सीधी-सादी सरल यात्रा है! पर सम्भवतः पाना इतना दुष्कर नहीं है जितना जोकुछ है उसे छोड़ना। कैसी विडम्बना है! इस यात्रा की तैयारी करने में आपको कामनाएँ छोड़नी हैं; छोड़ न सकें तो कम अवश्य करनी हैं—गाड़ी-बाड़ी, धन-

सम्पत्ति, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि का मोह छोड़ना है; ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध-लोभ छोड़ना है; कुछ संग्रह नहीं करना है, जो कुछ संग्रह किया है उससे विरक्त होना है। जैसा भोली-भाली गोपियों ने कहा—मन दस-बीस तो हैं नहीं, एक ही है, या तो उससे सांसारिक चिन्तन कर लीजिए या आध्यात्मिक। जैसे-जैसे संसार का चिन्तन कम होता जाएगा, ईश्वर-ध्यान दृढ़ होता चलेगा।

ईश्वर-ध्यान आंशिक है नहीं, हो सकता नही; वह तो समग्र है, पूर्ण है। गायत्री मन्त्र के ध्यान को लीजिए—उसके पहले चरण में—भूर्भुवः स्वः—तीनों लोक समा जाते हैं; दूसरे में तीन वेद—ऋक्, यजुः और साम, तीसरे मे प्राण, अपान और व्यान; और चौथे में सूर्य, आदित्य, सविता। वेदों के सारे मन्त्र संकीर्ण, संकुचित, व्यक्तिगत बात करते ही नहीं; सबके, सारी मानव-जाति के उत्थान, अभ्युदय, आनन्द की कामना करते हैं। सारे ही मन्त्र प्रेरणा-प्रद हैं। अगले अध्याय में एक विशेष मन्त्र की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करेंगे।

8. ध्यानोपासना के विभिन्न तरीक़े

बृहदारण्यक उपनिषद् के पाँचवें अध्याय में ध्यान करने के लिए अनेक अर्थपूर्ण मन्त्र दिए गए हैं और छठे में मुख्यरूप से पञ्चाग्नि-विद्या की चर्चा की गई है। जैसाकि पहले अध्याय में संकेत दिया गया है, बाह्य यज्ञ की तुलना में आन्तरिक उपासना अधिक शक्तिशाली एवं लाभदायक है। कर्मकाण्ड करें, पर पूरे मनोयोग के साथ 'ध्यान' अत्यधिक महत्वपूर्ण है और पंचम अध्याय इसी की चर्चा करता है। 'ध्यान' मन और हृदय से होता है और दोनों की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है जिस पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। जितना मन शुद्ध होगा उतना ही 'ध्यान' लगाने में सहायता होगी, इस तथ्य को भलीभाँति समझ लें।

पाँचवें अध्याय के पहले ब्राह्मण का पहला मन्त्र इस प्रकार है—

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।
ओम् खं ब्रह्म खं पुराणं वायुर् खमिति हस्माह
कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्॥

अत्यन्त सुन्दर एवं सारगर्भित मन्त्र है। ब्रह्म, उसकी सृष्टि, दोनों के सम्बन्ध

के विषय पर विश्व-साहित्य में इससे अधिक सटीक व्याख्या नहीं मिल सकती। 'ओम्' सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी ईश्वर का प्रतीक है। सर्वप्रथम हम एक निश्चित स्थान पर, निश्चित समय, प्रातः-सायं, पद्मासन या वज्रासन से (नहीं तो कुर्सी पर ही) बैठकर, मेरुदण्ड तथा गर्दन को सीधा रख, उस ईश्वर का ध्यान करें। एक बार आसन—जो भी आसान समझें—दृढ़ कर, शरीर को शिथिल छोड़ दें; तनाव नहीं होना चाहिए। तत्पश्चात् किसी भी अंग-प्रत्यंग को हिलाएँ नहीं, और सब ओर से मन हटाकर उस ईश्वर का ध्यान करें।

पूर्णमदः—वह अव्यक्त ब्रह्म सर्वरूपेण पूर्ण है—ऐसा मनन करें। **पूर्णमिदं** यह दिखाई देनेवाला कार्यजगत भी पूर्ण है। ब्रह्म ने किन्हीं बाह्य उपादानों, (सामग्री) की सहायता से सृष्टि का सर्जन नहीं किया, अपने-आप में से संसार को रचा। वह अपनी सृष्टि में प्रतिबिम्बित है, उसके कण-कण में समाया हुआ है, अर्थात् मिट्टी के, रेत के एक-एक कण में, वृक्षों-पौधों की एक-एक पत्ती, फूल, फल और बीज में, जो कुछ भी हम देखते हैं, या नहीं देखते, प्रत्येक वस्तु में एक ही ब्रह्म प्रतिबिम्बित है, झाँक रहा है, मुस्करा रहा है। अपने शरीर को देखिए—उसकी पिन की टोपी के समान प्रत्येक कोशिका में, सारे शरीर की संरचना का रहस्य मिल जाएगा। इस नन्ही-सी कोशिका का एक केन्द्र होता है जिसके चारों ओर जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म); केन्द्र में दो ऐंठे हुए तार-सदृश डी०एन०ए० होता है। इस डी०एन०ए० के परीक्षण द्वारा एक व्यक्ति की पहचान की जा सकती है। इस शरीर में केवल हाड़-मांस आदि ही नहीं होते, उनमें सोना, चाँदी, आयोडीन, मैग्नेशियम आदि धातुएँ एवं खनिज भी पाए जाते हैं—**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**, जैसे हमारा शरीर एक लघु-ब्रह्माण्ड समान है। यही नहीं, मानव-कोशिका के डी०एन०ए० तथा एक-कोशिकीय अमीबा के डी०एन०ए० की संरचना में कोई विशेष अन्तर नहीं है—यह एक वैज्ञानिक परीक्षण का सत्य है। इसी प्रकार यदि हम किसी भी वस्तु का विश्लेषण करें, उसकी अन्तिम इकाई अणु पर आकर समाप्त हो जाती है। प्रत्येक अणु में—चाहे वह किसी पदार्थ का हो—न्यूट्रोन, प्रोटोन, इलेक्ट्रोन होते हैं और अब एक नए तत्त्व 'कार्क' का पता चला है जो अणु की अन्तिम कड़ी है। अब विज्ञान विद्युत्, मेग्नेट आदि ऊर्जा-स्रोतों का अभिसरण कर, सृष्टि के मूल-तत्त्व का पता लगाने का प्रयत्न कर रहा है; भारतीय दार्शनिक उस तत्त्व को 'ब्रह्म' के नाम से पुकारते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के कण-कण में ब्रह्म व्याप्त है—यह एक वैज्ञानिक सत्य है। यदि ऐसा है तो आप केवल एक कण अथवा अणु का अध्ययन कर, उसको भलीभाँति जानकर, ब्रह्म को जान सकते हैं।

'वह' भी पूर्ण है, 'यह' भी पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण निकल जाने के बाद जो शेष रह गया वह कैसे पूर्ण हो सकता है ? साधारणतया, यदि हम पानी के बर्तन से एक गिलास जल निकाल लें तो उस बर्तन में उतना जल कम हो जाना चाहिए। यहाँ ऐसा नहीं है। जब पूर्ण ब्रह्म में से सृष्टि परिपेक्षित हुई तो ब्रह्म की पूर्णता मे कोई कमी नहीं आई, वह जैसा पहले पूर्ण था, वैसा ही बाद में भी पूर्ण रहा। इस रहस्य का एक उद्घाटन यह भी हो सकता है कि पूर्ण ब्रह्म में से कुछ 'निकला' ही नहीं, प्रतीकात्मक दृष्टि से कोई सृष्टि हुई ही नहीं, केवल ऐसा लगता है कि 'सृष्टि' है, अन्यथा सब माया है। भारतीय दर्शन के ऐसे भी मतावलम्बी है। वे कहते हैं एक बाजीगर टोपी में से कपोत निकालकर दिखा देता है, तरह-तरह की अन्य वस्तुएँ प्रस्तुत कर देता है और 'खेल' समाप्त होने पर अपना झोला उठाकर चल देता है।

पहले आप **ओं पूर्णमद:**—वह ब्रह्म पूर्ण है—इस पर ध्यान करें। जब वह पूर्ण है तो सब-कुछ 'उस' के अन्दर समाविष्ट होगा; यदि कुछ भी उसके बाहर रह गया तो 'वह' पूर्ण नहीं कहा जा सकेगा। आप अपनी कल्पना के पंख फैलाकर जिस किसी अन्य वस्तु का ध्यान आ जाए उसे ब्रह्म में लीन कर दें। वैसे तो आपको, स्वयं को, भी उसमें मिला देना चाहिए। जब सब-कुछ 'उस' में मिला हुआ है तो आप ही कैसे बाहर रह सकते हैं? पर शुरू-शुरू में ऐसी उपासना करने में कठिनाई होगी और आपको उपासना-कर्ता के रूप में अपनी पहचान अलग ही रखनी होगी। कुछ समय अभ्यास के बाद शनै.-शनै: आप अपने अस्तित्व को भी 'उस' में मिला सकते हैं। इसके लिए 'प्रयास' न करें, प्रयत्न करने का अर्थ होगा कि आप और 'वह' अलग-अलग हैं। वह स्वत: होना चाहिए, और होगा, चाहे कुछ ही क्षण के लिए हो, उस शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करे और 'ध्यान' में लगे रहे।

एक दूसरा ध्यान है—**ओं खं ब्रह्म खं पुराणं**। ब्रह्म का स्मरण तीन नामों से किया जाता है जिनमें ओ३म् और ब्रह्म प्रसिद्ध नाम हैं ही, 'खं' भी उसका नाम है। कौरव्यायणी-पुत्र के अनुसार वायुवाले आकाश का ही नाम 'खं' है। आप आसन जमाए केवल आकाश का ध्यान करे—वह आकाश, जिसका ओर है न छोर, न आदि है न अन्त, उसकी लम्बाई-चौड़ाई अनन्त है, गहराई अथाह। इसे आप किसी ऊँचे स्थान पर बैठकर आँख खोलकर भी देख सकते हैं। साथ ही चिन्तन करें—ऐ आकाश! जब मैं आँख उठाकर तेरी ओर देखता हूँ तो तेरी विशाल व्यापकता में, मेरा क्षुद्र अहं खो जाता है""इत्यादि। यह ध्यान अपेक्षाकृत आसान है क्योंकि आप आँख मूँदे किसी अदृश्य, अव्यक्त सत्ता का चिन्तन नहीं

कर रहे, आँख खोले एक भौतिक तत्त्व को देख रहे हैं, एक ऐसा तत्त्व जो सर्वत्र विद्यमान है। पृथ्वी जल में मिल जाती है, जल अग्नि से सूख जाता है, अग्नि को वायु बुझा देती है और वायु को आकाश निगल लेता है। जिन वस्तुओं को हम ठोस कहते हैं उनमें एक अणु और दूसरे अणु के बीच आकाश का अंश रहता है, पर आकाश स्वयं किसी में लिप्त नहीं होता। देश और काल से सब-कुछ सम्बद्ध है। अतः आकाश को ब्रह्म मानकर उपासना करना सबसे उच्च ज्ञान है—**वेदः अयम् ब्राह्मणाः विदुः**—बड़े-बड़े ज्ञानियों का कथन है : यही वेद है। सृष्टि आरम्भ में आज के रूप में विद्यमान नहीं थी, केवल 'प्रणव', ओम् गूँज रहा था। वह वेद था। उसके बाद 'प्रणव' तीन स्वरों में बँट गया, फिर गायत्री के पादों में, पुरुष-सूक्त में और अंततः विशाल ऋक्, यजुः एवं सामवेदों में, जैसे प्रणव, ओं, एक बीज हो जिसमें से ज्ञान का, वेदों का, विशाल वृक्ष बढ़कर चारों ओर फैल गया है। उपनिषद् में कई स्थानों पर कहा गया है : ओं ही सब-कुछ है; जो कुछ जानने योग्य है इसके ध्यान द्वारा जाना जा सकता है।

जो साधक निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ध्यान करने में कठिनाई अनुभव करें, वे किसी प्रतीक—जैसे ओम्—पर ध्यान करने से आरम्भ कर सकते हैं। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि यह एक पड़ाव है, मंजिल नहीं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि वे फिर 'प्रतीक' से आगे नहीं बढ़ पाते। साधारण साधकों की बात छोड़िए, **श्री रामकृष्ण परमहंस** जैसे सिद्ध पुरुषों को भी यह कठिनाई हुई थी। जब गुरु तोतापुरी ने उनकी उच्च अवस्था को देखा तो वे विस्मित हो गए। जिस आध्यात्मिक स्थिति पर पहुँचने में साधकों को वर्षों लग जाते हैं, श्री रामकृष्ण परमहंस ने मिनटों में प्राप्त कर ली। जब सिद्ध गुरु तोतापुरी ने उन्हें अपने मन को नितान्त अमूर्त, शून्य करने को कहा तो वे बोले—"मैं सारे भावों को हटा सकता हूँ पर 'माँ' की मूर्ति नहीं निकाल सकता।" तब तोतापुरी ने उनको युक्ति बताई और वे तुरन्त निर्विकल्प समाधि में पहुँच गए। यदि कोई कलाकार आजीवन आकारिक चित्र बनाता रहा है, तो फिर उसे अमूर्तकला का सर्जन करना अत्यन्त दुरूह हो जाता है। यहाँ भी कुछ ऐसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। 'प्रतीक' को प्रत्यक्ष न मानें, केवल एक चरण समझें जिसके बहुत आगे यात्रा करनी है।

नियमित समय, नियमित स्थान पर, नियमित आसन में बैठकर औपचारिक ध्यान ही पर्याप्त नहीं है। शेष समय में भी, जहाँ तक हो सके, आध्यात्मिक मनोवृत्ति दृढ़ करते रहना चाहिए। यह सम्भव है, साथ ही आपके लौकिक कर्मों की गुणवत्ता भी बढ़ जाएगी। पहला सुझाव यह है कि आप जो काम करें तत्परता

से, पूर्ण मनोयोग से करें, उसमें तल्लीन हो जाएँ। जब आपके हाथ में जो कार्य है उसे करने में आप अपनी सुध-बुध खो देंगे तो अहं-भाव लोप हो जाएगा और वह कार्य 'उपासना' बन जाएगा। दूसरे, **ईशावास्यम् इदं सर्वं** के अनुरूप जीने का अभ्यास करें। दीन-दुखियों, गुरुजनों, समाज एवं देश की निष्काम सेवा अपने-आप में 'उपासना' है। आपके जो साथी हैं, मित्र हैं, अधीनस्थ हैं, वरिष्ठ हैं, सबमें मन ही मन 'उसी' का दर्शन करें। कुछ समय में ही आप देखकर चकित हो जाएँगे कि आस-पास का वातावरण अनुकूल होता जा रहा है, आप सफल प्रबंधक कहे जाने लगे हैं। यह प्रबन्ध-कौशल की कुंजी है, और 'उपासना' भी। तीसरे, इस मूल-मन्त्र को याद रखिए—कर ले सो काम, भज ले सो राम। जो काम करना है, कर डालिए, टालिए मत। साथ ही, एक हाथ काम पर, दूसरा राम पर। सारे **उपनिषद्** बार-बार इसी तथ्य को तरह-तरह से स्पष्ट करने, उस पर बल देने का प्रयत्न करते हैं। इनका नियमित रूप से अध्ययन करते रहें ताकि उनके इस संदेश को भलीभाँति जानकर, जी सकें। आप कुछ नहीं कर रहे, कर सकते नहीं, सब-कुछ उसी के प्रकाश में, उसी की सत्ता के कारण हो रहा है। जब यह भाव आप के अन्तर् में उतर जाएगा तो आप हर परिस्थिति में अनायास ही सम रहेंगे, विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। जैसा **बृहादरण्यक उपनिषद्** उपदेश देता है—हमारी सारी इन्द्रियाँ किसी अन्य शक्ति से अनुप्राणित होती हैं और सब व्यक्तियों का आधार है पारब्रह्म परमेश्वर। आप कहीं भी हों, कुछ भी कर रहे हों, पूर्णता को, परमानन्द को, प्राप्त करना आपका जन्म-सिद्ध अधिकार है। आज नहीं तो कल, आप उसे प्राप्त करके रहेंगे।